न्द 'विदेह'

ख्या-ग्रन्थ

अष्टम पुष्प



एक रुपया पचास पैसे

272





यजुर्वेद-व्याख्या

अष्टम पुष्प

विष्णु की प्राप्ति और
विष्णु-योग की व्याप्ति की
साधना



ब्रह्म के संदर्शन और ब्राह्म
गुणों की प्राप्ति
का

वैदिक योग-शास्त्र

विद्यानन्द 'विदेह'

प्रथम संस्करण : २००० : आषाढ़ २०२३ वि० जून, १९६६

卐

प्रकाशक : वेदसंस्थान, अजमेर

मुद्रक : राजहंस प्रिन्टर्स, अजमेर



यजुर्वेद-व्याख्या

आठवां अध्याय

उपयामगृहीतोऽस्यादित्येभ्यस्त्वा ।
विष्ण उरुगायैष ते सोमस्तं रक्षस्व मा त्वा दभन् ॥ (य ८/१)

उपयाम-गृहीतः असि आदित्येभ्यः त्वा ।
विष्णो उरु-गाय एषः ते सोमः तं रक्षस्व मा त्वा दभन् ॥

सातवें अध्याय में विश्वव्यापी साचार वेदप्रचार की नियोजना थी। इस आठवें अध्याय में विष्णु की प्राप्ति की साधना है। वेदाध्ययन तथा वेदप्रचार का लाभ क्या, यदि विष्णु की प्राप्ति न हो। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति (ऋ १. १६४. ३६, अ ६. १०.१८)—जो उसे नहीं जानता है वह वेद से क्या करेगा।

विश प्रवेशने। विष्णु शब्द विश धातु से बना है जिसका अर्थ है प्रवेश करना। अग्नि-याग [अग्निहोत्र, हवन] विष्णु है, क्योंकि वह अपनी सुगन्धि द्वारा आकाश-मण्डल में प्रविष्ट होता है। शरीर में प्रविष्ट होने से आत्मा विष्णु है। अखिल सृष्टि में प्रविष्ट होने से परमात्मा विष्णु है। जो जिसके हृदय में बसता है, वह भी उसका विष्णु है। जिसके दिल में जिसकी चाह है, वह उसका विष्णु है। जिसके हृदय में जिसकी सूरत बसी है, वह उसका विष्णु है। विष्णु शब्द का प्रयोग यहां परमात्मा के लिये हुआ है।

उरु-गाय है विष्णु का विशेषण। उरु का अर्थ है बहुत, विशाल, व्यापक। गाय का अर्थ है गाया गया, गीय, स्तुत्य, कीर्तित। उसकी महिमा का उरु गान हो रहा है, बहुत कीर्तन प्रचुर यशोगान होरहा है। वेद के अनुशीलन तथा श्रवण से मानव का विवेक जागृत होता है। विवेक के जागरण से उसे परम पावन प्रभु के मिलन की अभिलाषा होती है। योग के पथ पर आरूढ़ हुआ वह दर्शनाभिलाषी विष्णु को आत्मसमर्पण करता है—(उरु-गाय विष्णो)! (एषः सोमः) यह सोम (ते) तेरा है, (तं) उस को/की (रक्षस्व) रक्षा कर।

साधक यहां सोम बन गया है, सोम्य शिशु बन गया है, प्रेमी भक्त बन गया है और स्नेहातिरेक में कह रहा है, "परम स्तुत्य हृदयरम देव! तेरा यह भक्त तुझे सर्मपित है। इसकी रक्षा कर। इसके प्रेम की लाज रख। योगपथ पर इसकी सतत साधना को अग्रसर रख। मुझे दर्शन दे। मेरी अन्तःगुहा के अन्धकार को मिटाकर उसमें वह प्रकाश पूरदे जिसमें मैं तेरा संदर्शन कर सकूं"। योग के क्षेत्र में समर्पण सर्वप्रथम पग है।

साधक पुनः कहता है—उरुगाय विष्णो! मैं (त्वा) तुझे (आदित्येभ्यः) आदित्यों के लिये [वरण करता हूं]।

आदित्य शब्द सूर्य-और-किरण-वाची है। यहां इस शब्द का प्रयोग किरण के अर्थ में हुआ है।

"देव! तू सूर्य है, सूर्यों का सूर्य, परम सूर्य, वह सूर्य जिसकी दिव्य किरणें अन्तरतम के अन्धकार को विलीन करके उसमें शुभ्र प्रकाश पूर देती हैं, वह प्रकाश जिसमें तेरा संदर्शन और आत्मसाक्षात्कार होता है। मैंने तुझे आत्मसमर्पण किया है, मेरे मानस में अपनी दिव्य किरणों का संचार कर, ताकि मेरी अंधेरी हृदय-गुहा में दिव्य प्रकाश समा जाये और उसकी दिव्य ज्योत्सना में आत्म-अवस्थित होकर मैं तेरे परम दर्शनीय निज रूप का संदर्शन कर सकूं"।

उसके हृदय में अन्तर्ध्वनि होती है, मानों उरुगाय विष्णु साधक से कह रहा है—रे साधक! तू (उपयाम-गृहीतः असि) पृथिवी-गृहीत है।

पृथिवी ने तुझे जकड़ रखा है। पार्थिव भोगों, रोगों और व्यामोहों ने तुझे कस कर बांध रखा है। भौतिक विकार-वासना-जन्य मल-विक्षेपों ने तेरे अन्तः में जो आवरण और नीहार आच्छादित किया हुआ है, उसके तमिस्र में तुझे कुछ सूझ नहीं रहा है। मैंने अपने आपको तुझसे नहीं छिपाया हुआ है। तेरे अपने मल-विक्षेपों ने ही तुझे मेरे संदर्शन से वञ्चित किया हुआ है।

इस अन्तर्ध्वनि से उद्‌बुद्ध प्रबुद्ध होकर साधक आत्मसम्बोधन करता है—मेरे आत्मन् ! संसार के ये विकार वासना, मल विक्षेप, आवरण नीहार, प्रलोभन आकर्षण (त्वा मा दभन्) तुझे न हिंसें, तुझे न सतायें, तुझे दबाये न रहें। इन्हें परास्त कर। इनका निराकरण कर।

विष्णो उरु-गाय ! तेरा ही
है यह साधक सोम,
कर सुरक्षा इसकी,
तुझे वरण करता हूं आदित्यों के लिये।
तू है पृथिवी–गृहीत,
वे दबा न पाएं तुझको।

सूक्ति—मा त्वा दभन्।
भोग रोग व्यामोह
दबाने पाएं न तुझको ॥

कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।
उपोपेन्नु मघवन्भूय इन्नु ते दानं देवस्य
पृच्यत आदित्येभ्यस्त्वा ॥ (य ८/२)

[ऋ ८.५१.७, य ३/३४, सा ३००]

कदा चन स्तरीः असि न इन्द्र सश्चसि दाशुषे।
उप-उप इत् नु मघवन् भूयः इत् नु ते दानं
देवस्य पृच्यते आदित्येभ्यः त्वा ॥

पूर्व मन्त्र में उरुगाय विष्णु ने साधक से कहा था—साधक तू पृथिवी-गृहीत है। मैंने अपने आपको नहीं छिपाया हुआ है। तेरे अपने मल-विक्षेपों ने ही तुझे मेरे संदर्शन से वञ्चित किया हुआ है।

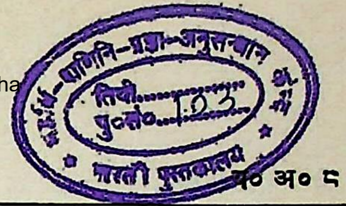
साधक कहता है—

१) निस्सन्देह (मघवन् इन्द्र) ! तू (कदा चन) कभी भी, कदापि (स्तरीः न असि) छिपनेवाला नहीं है। तू छिपा हुआ नहीं है, सर्वत्र प्रकाश रहा है। मेरे अपने मलविक्षेपादि आवरणों ने ही तुझे मेरी दृष्टि से ओझल किया हुआ है।

मघ नाम पूजित धन का है। विष्णु के आत्म-धन पूजित धन हैं। उसके ब्राह्मैश्वर्य सुपूजित और सुपूत हैं। विष्णु मघवान् तो है ही, इन्द्र भी है। इन् शत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा इन्द्रः। वह अन्तःशत्रुओं का हन्ता अथवा विघ्नों का विदारण [नाश] करनेवाला है, अतः वह इन्द्र है। "विष्णो ! मेरे मलविक्षेपादि विघ्नावरणों का निवारण करके मुझे अपने संदर्शन का पूजित धन स्वयं तुझे ही प्रदान करना है"।

२) निश्चय ही तू (दाशुषे) दानशील के लिये, आत्मसमर्पक के प्रति (सश्चसि) संगत होता है। "विष्णो ! मैं आत्मना तेरे प्रति समर्पित हूं। मेरे समर्पण को स्वीकार कर और मुझसे संगत हो।"

३) (ते देवस्य दानं) तुझ देव का दान (उप-उप इत्) निकट-निकट ही, (नु-नु इत्) शीघ्र-शीघ्र ही निरन्तर (भूयः) अधिकाधिक, अतुल, अनवरत (पृच्यते) संगत/प्राप्त हो रहा है।



"विष्णो ! तू तो मेरे निकट निकट ही है, निकटतम ही है। तू मुझसे दूर नहीं है। तू मुझमें है और मैं तुझमें हूं। तुझसे निकटतम हुआ मैं निरन्तर अनवरत तेरी अनन्त देन से निहाल होरहा हूं। अपनी अनन्त देन से सर्वतः मेरे दामन को भरनेवाले ! तू मेरा दाता है, जीवन-दाता है, जीवनार्थ सब कुछ देनेवाला है। ओह ! मैं अपने सर्वदानी सर्वदाता का दर्शन नहीं कर पा रहा हूं ! यह कैसी उलझन है। तू ही बता कि इस उलझन को मैं कैसे सुलझाऊं"। इस उलझन को सुलझाने के लिये साधक विष्णु से पुनः विनय करता है—मैं (त्वा) तुझे (आदित्येभ्यः) किरणों के लिये [पुकारता हूं]।

"विष्णो ! मेरे अन्तः में अपनी उन दिव्य किरणों का प्रसारण कर, जिनसे मेरी हृदय गुहा में वह दिव्य प्रकाश समा जाये, जिसकी ज्योत्स्ना में आत्म-अवस्थित होकर मैं तेरे दिव्य स्वरूप का संदर्शन कर पाऊं"।

मघवन् इन्द्र !
नहीं तू स्तरी कभी कदापि,
सदा समर्पक से संगत रहता है तू तो।
निकट निकट ही शीघ्र शीघ्र ही
अधिकाधिक सम्प्राप्त हो रहा,
तुझ सुदेव का दान,
किरणों के लिये पुकारता हूं मैं तुझको ॥

सूक्ति—कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र।
इन्द्र ! तू कदापि छिपनेवाला नहीं है ॥

कदा चन प्र युच्छस्युभे नि पासि जन्मनी।
तुरीयादित्य सवनं त इन्द्रियमातस्थावमृतं दिव्यादित्येभ्यस्त्वा ॥
[ऋ ८. ५२.७] (य ८/३)

कदा चन प्र-युच्छसि उभे नि-पासि जन्मनी।
तुरीय आदित्य सवनं ते इन्द्रियं आ-तस्थौ अमृतं दिवि आदि त्येभ्यः त्वः ॥

विष्णु से बात करता करता योगारूढ़ विवेकी साधक अब अपने आपसे बातें करने लगता है—(तुरीय आदित्य) चतुर्थ सूर्य ! तू (कदा चन प्र-युच्छसि) कदापि [कैसे] प्रमाद करता है ! कैसे तू प्रमाद कररहा है ! तुझे (उभे जन्मनी नि-पासि) दोनों जन्मों [की] रक्षा [साधना] करनी है।

यह तुरीय आदित्य [चतुर्थ सूर्य] क्या वस्तु है ? सूर्य का प्रमुख गुण प्रकाश करना है। सूर्य प्रकाशक है। विष्णु ने मानव-जीवन में चार सूर्यों की प्रस्थापना की है—बुद्धिसूर्य, मनःसूर्य चित्तसूर्य और आत्मसूर्य।

मानवयोनि ही वह योनि है जिसमें दोनों जन्मों की सफल साधना की जा सकती है। उभय जन्मों की साध अतिशय दुस्तर साध है। इसी लिये मानव को चार सूर्य प्रदान किये गये हैं। बुद्धिसूर्य के प्रकाश में वह समझे कि उसे मानवजन्म में इस लोक की साधना के आश्रय से दूसरे लोक [ब्रह्मलोक] की संसिद्धि करनी है। मनःसूर्य के प्रकाश में वह ब्रह्मप्राप्ति के संकल्प को सजीवता के साथ जागृत रखे। चित्तसूर्य के प्रकाश में वह अपनी इस प्रचेतना को सदैव प्रज्वलित रखे। आत्मसूर्य के प्रकाश में अन्य तीनों सूर्यों को सदा प्रकाशित रखता हुआ वह प्रमादरहित रहकर जागरूकता तथा तत्परता के साथ उभय जन्मों की साधों को संसिद्ध करे।

मानव शरीर में शिर अथवा मस्तिष्क द्यौस्थानीय है। दिव्यता से ही द्यौ द्यौ है। जिस मस्तिष्क में दिव्य चिन्तन तथा दिव्य विचार होते

हैं उसी मस्तिष्क की संज्ञा द्यौ है। दिव्य विचारों का महत्त्व भी चिन्तन की गहनता तथा विचारों की स्थिरता में है। इस गहनता और स्थिरता में ही स्थिर मति अथवा स्थित प्रज्ञा का निवास होता है। स्थिर और संस्थित दिव्य मस्तिष्क से अनुशासित होने पर ही ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों द्वारा निष्पादित सम्पदा [साधना] अमृत [विषरहित, अमृतमय] होती है। इसी अनुभूति को प्रचेताते हुए योग-साधक ने कहा है-(तुरीय आदित्य) आत्म-सूर्य! तू स्वयं (दिवि आ-तस्थौ) द्यौ में संस्थित रहता हुआ (ते) तेरे, अपने (इन्द्रियं सवनं) इन्द्रिय सवन को, इन्द्रियों के द्वारा निष्पादित साधना को (अमृतं) अमृत बना, अमृतमय रख। दिव्य इन्द्रियों से निष्पादित साधना ही दिव्य फल लाती है। अमृतमय इन्द्रियों द्वारा की गयो साधना ही अमृतमय होती है।

और मन्त्रान्त में वह प्रार्थना करता है— विष्णो! मैं (त्वा) तुझे (आदित्येभ्यः) रश्मियों के लिये [प्रार्थता हूं]। मेरे अन्तरङ्ग में अपनी उन दिव्य रश्मियों का प्रकाशन कर जिनके शुभ्र प्रकाश से मेरा द्यौ दिव्य द्युति से द्योतित रहता हुआ मेरी अमृतमय इन्द्रियों की संसाधना को अमृतमय बनाए रहे।

रे तुरीय आदित्य,
कदापि तू प्रमाद करता है जबकि
उभय जन्म की साध सिद्ध करनी है तुझको।
रहता हुआ संस्थित द्यौ में,
अमृतमय रख इन्द्रिय सवन को,
प्रार्थरहा हूं तुझे रश्मियों के लिये मैं॥

सूक्ति—कदा चन प्रयुच्छसि।
कदापि तू प्रमाद करता है!
उभे नि पासि जन्मनी।
तुझे दोनों जन्मों की साध सिद्ध करनी है॥

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः।
आ वो ऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादंहोश्चिद्या
वरिवोवित्तरासदादित्येभ्यस्त्वा॥ (य ८/४)
[ऋ १. १०७. १, य ३३/६८]
यज्ञः देवानां प्रति-एति सुम्नं आदित्यासः भवत मृडयन्तः।
आ वः अर्वाची सु-मतिः ववृत्यात् अंहोः चित् या वरिवः-वित्-तरा असत्
आदित्येभ्यः त्वा॥

योगपथ के पथिकों को यहां वेदमाता सुशिक्षा कर रही है, सुन्दर सीख दे रही है—(आदित्यासः) आदित्यो! अखण्डव्रतियो! तेजस्वियो! (देवानां यज्ञः) देवों का यज्ञ (सुम्नं प्रति-एति) सुम्न प्राप्त कराता है। देवों के सङ्ग से (मृडयन्तः भवत) सुखयिता होओ, सुखशील बनो।

वैदिक वाङ्मय में आदित्य नाम अखण्ड और तेजस्वी का भी है। सूर्य अखण्डव्रती है। वह अखण्डता के साथ अजस्र प्रकाश और तेज का प्रसार करता है। अखण्डव्रती निस्सन्देह तेजस्वी होता है। जो अखण्डता के साथ योगानुष्ठान करते हैं वे तेजःपुञ्ज बन जाते हैं, इसमें सन्देह क्या? योगसाधकों को आदित्यासः सम्बोधन से सम्बोधित करके वेदमाता ने इसी रहस्य का उद्घाटन किया है।

यज्ञेति संगतिकरणम्। यज्ञ नाम संगतिकरण अथवा संग का है।

सुम्न का अर्थ है सु-अभ्यास, सुमनस्कता, सुप्रसन्नता। सु-अभ्यास से मन सु-मन बनता है,



सुमनस्कता सिद्ध होती है । मन को सु-मनता अथवा सुमनस्कता से सु-प्रसन्नता प्राप्त होती है ।

मृड सुखने । मृड का अर्थ है सुखी होना, सुखी करना, नीरोगता और सुस्वास्थ्य से युक्त होना, सदा नीरोग और स्वस्थ रहना ।

इस मन्त्रांश में वेदमाता ने योग-साधक नर-नारियों को परम योग के एक मूलभूत सिद्धान्त का बोध कराया है ।

"देवों के संग से सदभ्यासों की प्राप्ति होती है । सदभ्यास से मन सु-मन बनता है । सु-मनता से सुप्रसन्नता मिलती है । सुप्रसन्नता से नीरोगता, सुस्वास्थ्य, स्वस्ति, सुख, शान्ति की उपलब्धि होती है, जिससे योग का सुपथ प्रशस्त होता है" । अतः योग-साधकों को देवों की ही संगति करनी चाहिये ।

सुशिक्षा करने के उपरान्त अब वेदमाता एक बहुत सुन्दर आदेश देती है—आदित्यो ! अखण्ड-व्रतियो ! तेजस्वियो ! (वः) तुम्हारी (अर्वाची सुमतिः) नवीन सुमति, (या) जो (अंहोः चित्) पापी की भी (वरिवः-वित्-तरा) अधिकाधिक वरणीयता प्राप्त करानेवाली (असत्) हुआ करती है, तुम्हें (आ-ववृत्यात्) आवर्तती-प्रेरती-प्रकाशती रहे ।

सुमति न केवल योग-पथ की, अपि तु सभी पथों की, प्रशस्तिका होती है, यदि वह नवीनता-ग्राही रहे । पुरातनवाद [प्रमाणवाद] सुमति को रूढ़, कुंठित और संकुचित बना देता है । योग के क्षेत्र में नयी नयी अनुभूतियां और नयी नयी विधियां प्रकट और प्रकाशित होती हैं । नवीनता-ग्राही सुमति ही उनका ग्रहण और स्वीकार कर सकती है ।

नवीन सुमति वह पावमानी ओषधि है जो पापी को भी वरणीय [साधु] बना देती है, उसे अधिकाधिक वरणीयताओं से सुशोभित कर देती है । योगसाधकों को ऐसी अर्वाची सुमति से युक्त रहना चाहिये । ऐसा करने से उनके मलों का शोधन, उनके योगैश्वर्यों का वर्धन और उन्हें वरणीयताओं का बोधन सदा सर्वदा होता रहता है । योगसाधकों को ऐसी नवीन सुमति से प्रप्रेरित रहना चाहिये ।

नवीनताग्राही नवीन सुमति से युक्त रहते हुए ही योग के साधक-साधिका दिव्य जनों की संगति से नित्य नये नये ज्ञान विज्ञान ग्रहण करके स्वयं मृडता से सम्पन्न रहते हैं और दूसरों को मृडमान् करते हैं ।

वेदमाता की सुशिक्षा और आदेश से प्रभावित होकर प्रत्येक योगसाधक बोल पड़ता है—नवीन सुमते ! मैं (त्वा) तुझे (आदित्येभ्यः) ज्ञानरश्मियों [की प्राप्ति] के लिये [अपने मस्तिष्क में] स्थापन करता हूं ।

देवों का सुसङ्ग आदित्यो,
प्राप्त कराता है सुसुम्न और
उससे तुम मृडशील बनो ।
जो अर्वाची सुमति तुम्हारी,
पापी का भी शोधन करती,
सदा रहे सम्प्राप्त तुम्हें ।
सुमते, तुझे स्थापन करता
हूं मैं ज्ञानरश्मियों के हित ॥

सूक्ति—यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नम् ।
देवों का सत्सङ्ग सुख प्राप्त कराता है ।
भवता मृडयन्तः ।
सुखशील बनो ॥

विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन् मत्स्व । अदस्मै नरो वचसे दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः । पुमान् पुत्रो जायते विन्दते वस्वधा विश्वाहारप एधते गृहे ॥ (य ८/५)

विवस्वन् आदित्य एषः ते सोम-पीथः तस्मिन् मत्स्व । श्रत् अस्मै नरः वचसे दधातन यत् आशीःदाः दम्पती वामं अश्नुतः । पुमान् पुत्रः जायते विन्दते वसु अध विश्वाहा अ-रपः एधते गृहे ॥

क्या गृहस्थाश्रम में स्थित रहते हुए और गृह में निवास करते हुए विष्णु का साक्षात्कार किया जा सकता है ? यह एक प्रश्न है जो सदा से किया जाता रहा है और सदैव किया जाता रहेगा। यह मन्त्र उस प्रश्न का एक शाश्वत उत्तर है। वेदमाता कहती है—

१) (आदित्य विवस्वन्) अखण्डव्रत गृहस्थ ! (एषः) यह [गृहस्थाश्रम] (ते सोम-पीथः) तेरा सोम-पीथ है, (तस्मिन्) उसमें (मत्स्व) आनन्दित रह, आनन्द लाभ कर।

विविध वसुओं [ऐश्वर्यों] का जो स्वामी हो और विविध रीति से सुनिर्मित व सज्ज गृह में जो निवास करता हो उसे विवस्वान् कहते हैं। गृहस्थ अथवा गृहस्थी ही है जिसे विविध वसुओं के स्वामित्व का, अपि च विसज्ज गृह में निवास करने का अधिकार है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी तथा संन्यासी तो अपरिग्रही [बे सरो सामान] होते हैं और सादा सरल कुटीरों में निवास करते हैं। प्रत्येक गृहस्थ को अखण्डव्रती होना चाहिये। प्रत्येक गृहस्थ का यह व्रत होना चाहिये कि इसी जन्म में उसे उभय जन्मों की साध सिद्ध करनी है, लोक परलोक की विजय सम्पादन करनी है, भौतिक और ब्राह्म ऐश्वर्यों से सम्पन्न रहते हुए योगयुक्त जीवन-पद्धति से उसे विष्णु के परम पद [मोक्ष धाम] में प्रविष्ट होना है।

सोमपीथ=सोम+पीथ=सोम-पेय। सोम-पीथ नाम उस स्थान या सदन का है जहां सोम का पान किया जाता है। सोम शब्द का प्रयोग यहां ब्रह्मामृत अथवा ब्रह्मानन्द के अर्थ में हुआ है।

"आदित्य विवस्वन् ! तेरा गृहाश्रम ब्रह्मामृत-पान और ब्रह्मानन्द-लाभ का पुण्य-स्थल है। उसी में आनन्दामृत लाभ कर"।

गृहस्थी का गृह ही वह पुनीत योगाश्रम और वह सुपावन साधनास्थल है जहां लौकिक और पारलौकिक सकल सिद्धियां सिद्ध की जा सकती हैं, बशर्तेकि वैदिक पद्धति से गृहाश्रम का निर्वहन किया जाये—

। साधो घर में सब धन पाया।
घर में ही सिद्धि सब पाईं, योगाष्टाङ्ग रचाया॥
यम और नियम धार, कोने में आसन पद्म लगाया।
प्राणायाम क्रिया के द्वारा, प्राणवशी कर पाया॥
प्रत्याहार धारणा द्वारा, ध्यान समाधि सधाया।
इस मेरे साधन-सुहाग को, क्या छीने घर माया॥

यह एक नितान्त भ्रान्त अवैदिक धारणा है कि विरक्ताश्रम में ही योगानुष्ठान करके विष्णु का साक्षात्कार किया जाता है। आश्रमों का वैदिक स्वरूप यह है कि ब्रह्मचर्याश्रम में योगसाधना करके योगी योगिनी बना जाता है। योगी और योगिनी ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने के अधिकारी होते हैं। गृहस्थाश्रम में आत्म-अवस्थिति का

सम्पादन करके स्व-स्वरूप का दर्शन और ब्रह्म का साक्षात्कार किया जाता है। वानप्रस्थाश्रम में आचार्य और आचार्या बनकर गुरुकुलों अथवा विद्यालयों में निश्शुल्क अध्यापन कार्य किया जाता है। संन्यासाश्रम में परिव्राट् बनकर सम्पूर्ण भूमण्डल पर विचरते हुए विश्व को ज्योतिर्दान किया जाता है।

२) (नरः) नरो! नर-नारियो! मेरे (अस्मै वचसे) इस वचन के लिये, इस कथन के प्रति (श्रत्) सत्य, सत्यनिष्ठा, श्रद्धा (दधातन) धारण-स्थापन करो कि (दम्पती) पति-पत्नी, माता-पिता, गृहपति-गृहपत्नी (यत्) जब, यदा (वामं अश्नुतः) वाम सेवन करते हैं, तब (आशीःदाः पुमान् पुत्रः जायते) आशीर्दा वीर पुत्र जन्मता है, परिवार (वसु विन्दते) ऐश्वर्य प्राप्त करता है, ऐश्वर्यशाली रहता है, (अध) और (गृहे) गृह में [प्रत्येक व्यक्ति] (अरपः) अ-रप, अ-मल, निर्मल, निष्पाप [रहता हुआ] (विश्वाहा) सब दिनों, सदैव (एधते) बढ़ता है, समुन्नत होता रहता है।

वाम का अर्थ है प्रशंसनीय, सुन्दर, अन्तस्सौन्दर्य, आत्मसौन्दर्य। आत्मसौन्दर्य अथवा अन्तस्सौन्दर्य ही वास्तविक सौन्दर्य है और प्रशंसनीय सौन्दर्य है। आत्मसौन्दर्य में सकल सौन्दर्य अन्तर्निहित हैं।

आशीर्दा=आशीः+दा, आशीर्वाद देनेवाला, आशीर्वाद प्राप्त करानेवाला, मुबारिकबादें दिलानेवाला।

पुत्र=पुन्+त्र। पुन् नाम नरक, दुःख, संकट का है। त्र का अर्थ है तारनेवाला। नरक अथवा दुःख से जो तारे उसे पुत्र कहते हैं। पुत्र का प्रयोग यहां उपलक्षण से सुसन्तान के अर्थ में हुआ है।

अपनी मानव-प्रजा को सम्बोधन करती हुई वेदमाता कह रही है—"नर-नारियो! सुनो! दम्पती जब केवल बाह्य सौन्दर्य से ही नहीं, अन्तस्सौन्दर्य से भी विभूषित होते हैं, तब उन्हें आशीर्दा वीर सन्तान की उपलब्धि होती है, उनका सारा परिवार ऐश्वर्यशाली होता है और उनके गृह का प्रत्येक व्यक्ति निर्दोष, निष्पाप रहता हुआ सदा सर्वदा सर्वतः समृद्ध और समुन्नत होता रहता है। मेरे इस कथन पर श्रद्धापूर्वक आचरण करो"।

विवस्वन् आदित्य,
यह तेरा सोम-पीथ है,
उसमें कर आनन्द लाभ तू।
नरो!
इस कथन के प्रति श्रद्धा करो स्थापन,
दम्पती जब अन्तस्सौन्दर्य सेवन करते,
तभी जन्मता पुत्र वीर आशीषोंवाला,
होता सब परिवार ऐश्वर्यशाली
और गृह में प्रत्येक व्यक्ति सब दिनों सदा ही
निर्मल रहता हुआ समुन्नति करता रहता॥

वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवेदिवे वाममस्मभ्यं सावीः।
वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम॥
[ऋ ६. ७१. ६] (य ८/६)

वामं अद्य सवितः वामं उ श्वः दिवे-दिवे वामं अस्मभ्यं सावीः।
वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेः अया धिया वाम-भाजः स्याम॥

जो जैसा चिन्तन करते हैं वे वैसे होजाते हैं। जो जिसका चिन्तन करते हैं उन्हें उसकी प्राप्ति होती है। पूर्व मन्त्र में वेदमाता ने गृहस्थियों को उसका सुफल बताते हुए वाम-सेवन की प्रेरणा की थी। इस मन्त्र में गृहस्थाश्रमी वाम की भावना, अपि च कामना करते हैं।

(सवितः) सृष्टिकर्तः ! तूने (अस्मभ्यं) हमारे लिये (अद्य) आज (वामं) वाम, (श्वः उ वामं) आगामी कल भी वाम, (दिवे-दिवे) दिन-दिन के लिये, प्रत्येक दिन के लिये (वामं) वाम (सावीः) सृजन किया है, विहित किया है।

सविता देव ने वाम [सुन्दर संसार] की रचना इसलिये की है और मानव योनि का निर्माण इसी लिये किया है कि आत्मायें मानव-योनि में आत्म-साधना के द्वारा वाम [अन्तस्सौन्दर्य] की संसेवना करके उभय जन्मों की साध सिद्ध करें और विष्णु के परम धाम के भागी बनें। मानव योनि के लिये सविता ने यही विहित किया है। इस धारणा को दृढ़ता के साथ धारण किये रहने के लिये वामा-भिलाषी जन नित्य इस प्रकार चिन्तन करते रहें—"वामस्रष्टः! तूने सुन्दर संसार की रचना इस प्रकार की है कि हम सब आज, कल, दिन दिन, प्रति दिन वाम का सेवन और वाम की संसाधना करते रहें"।

और अब वामाभिलाषी जन आत्म-कामना करते हैं और कामनापूर्ति के लिये दिव्य देव से प्रार्थना करते हैं—"(देव) दिव्यताओं के पुञ्ज! परम दिव्य सुपावन प्रभो! हम अपनी (अया धिया हि) इस धारणा से ही, इस सतत चिन्तन द्वारा ही (भूरेः वामस्य क्षयस्य) बहुत सुन्दर गृह के (वाम-भाजः) वाम-भोक्ता, वाम-सेवी (स्याम) हों, रहें"।

क्षय का अर्थ है निवास-स्थान। क्षय शब्द का प्रयोग यहां उस निवास-स्थान के लिये हुआ है जहां गर्भ में से ही आत्मा निवास करता चला आरहा है। मानव का शरीर-रूपी क्षय अन्तः बाह्य सौन्दर्य का भूरि आगार है। इसी भाव से इसे भूरि वाम का क्षय [गृह] कहा गया है। इस वाम-क्षय में निवास करते हुए हम सब आत्माओं को चाहिये कि आत्मसाधना द्वारा इस वाम-गृह में वाम [अन्तस्सौन्दर्य, आत्म-सौन्दर्य, ब्रह्म-सौन्दर्य] का संदर्शन और संसेवन करें।

सवितः,
तूने सृजन किया है,
हमारे लिये,
वाम आज,
कल वाम अपि च,
दिन-दिन-हेतु वाम।
देव,
रहें हम वाम-सुसेवी
भूरि वाम के देह-क्षय में
इसी धारणा और चिन्तन से॥

सूक्ति—वामभाजः स्याम।
हम वामसेवी हों।
हम अन्तस्सौन्दर्य के सेवन करनेवाले हों।
हम आत्मसौन्दर्य से सुभूषित रहें॥

उपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि चनोधाश्चनोधा असि चनो मयि धेहि।
जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिं भगाय देवाय त्वा सवित्रे॥ (य ८/७)

उपयाम-गृहीतः असि सावित्रः असि चनःधाः चनःधाः असि
चनः मयि धेहि। जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञ-पतिं भगाय देवाय त्वा सवित्रे॥

प्रत्येक वामाभिलाषी आत्मा को सम्बोधती हुई वेदमाता कहती है—साधक! माना कि तू (उपयाम-गृहीतः असि) पृथिवी-गृहीत है, पार्थिव देह में निवास कर रहा है, किन्तु आत्म-स्वरूप से तू (सावित्रः असि) सावित्र है।

सवितृ [सृजन, साधन, साधना] शक्ति से जो सम्पन्न हो उसे सावित्र कहते हैं। सविता [सूर्य] के समान जो आत्म-आवृत पर संस्थित, उदयशील, तेजस्वी और प्रकाशक हो, उसकी सावित्र संज्ञा है।

कितनी उदात्त और सम्प्रेरक है वेदमाता की यह वैदिक प्रेरणा—"आत्मन् ! यह पार्थिव देह तेरा स्वरूप नहीं है। यह तो तेरा निवास-स्थान है। तू स्वयं तो सावित्र है, सृजनशक्ति से सम्पन्न है, सूर्य के समान उदित, सतेज और प्रकाश-पुञ्ज है। उठ, आत्मसाधना द्वारा अपने इस पार्थिव सदन में वाम का संसृजन और सेवन कर और अपने सब ओर सबको वामसेवी बना"।

वेदमाता की इस वैदिक प्रेरणा से प्रेरित होकर वामाभिलाषी आत्मा वैदिक संज्ञान के प्रणेता परम पावन प्रभु से विनय करने लगता है—देव ! तू (चनःधाः असि चनःधाः) चनःधारक है चनः-धारक। (मयि) मुझमें (चनः धेहि) चनः धारण कर।

चन शब्दे। चन पश्यतिकर्मा। चन श्रद्धायाम्। चन धातु का प्रयोग शब्द, दर्शन और श्रद्धा [श्रत्+धा=सत्य+धारण] के अर्थों में होता है। पवित्र अन्तःकरण में अनिर्वचनीय प्रेरणारूप शब्द प्रेरनेवाला होने से परमात्मा चनःधाः है। अन्तर्यामीरूप से सर्वद्रष्टा और ज्योतिरूप से दर्शनेवाला होने से वह चनःधाः है। सत्य धारण करने और करानेवाला होने से वह चनःधाः है।

"देव ! तू अन्तर्यामी अन्तःप्रेरक, सर्वद्रष्टा सर्वदर्शक और सत्यधारक है। मुझमें अन्तःप्रेरणा कर, मुझे ज्योति प्रदान कर, मुझमें सत्य की स्थापना कर—ताकि मैं वामसेवी और वाम का सेवन करानेवाला होऊं"।

वह पुनः विनय करता है—प्रियतम देव ! मेरे अपने और संसार के (भगाय) ऐश्वर्यार्थ, सुख-सौभाग्य के लिये [मेरे] (यज्ञं) यज्ञ को, वाम-सम्पादनरूपी यज्ञ को, विष्णु की प्राप्ति के योगरूपी यज्ञ को (जिन्व) प्रेर, सुप्रेरणा कर, [मेरे] (यज्ञ-पतिं) यज्ञ-पति को, वाम-यज्ञ के सम्पादक अथवा विष्णु की प्राप्ति के योग-याग के साधक आत्मा को (जिन्व) प्रेर, सुप्रेरणा कर।

और अपने साधनामय जीवन को सम्बोधन करता हुआ वह अपने भाव-भरे शब्दों में कहता है—मेरे जीवन ! मैं (त्वा) तुझे (देवाय) देव के लिये, दिव्यता के सम्पादन के लिये तथा (सवित्रे) सवितृ के लिए, वाम-सृजन के लिये समर्पित करता हूं।

तू है पृथिवी-गृहीत,
तू है सावित्र,
चनोधा है तू चनोधा,
मुझमें कर प्रस्थापन चन।
प्रेर यज्ञ को,
प्रेर यज्ञपति को,
भग के लिए।
तुझे प्रार्पित करता हूं मैं
देव के हेतु,
सवितृ के लिए॥

सूक्ति—सावित्रोऽसि।
तू सृजनशक्ति-सम्पन्न है॥
जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिं भगाय।
सुख-सौभाग्य के लिए यज्ञ को
प्रेर, यज्ञपति को प्रेर॥

उपयामगृहीतोऽसि सुशर्मासि सुप्रतिष्ठानो बृहदुक्षाय नमः।
विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः॥ (य ८/८)

उपयाम-गृहीतः असि सु-शर्मा असि सु-प्रतिस्थानः बृहत्-उक्षाय नमः।
विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः एषः ते योनिः विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः॥

प्रत्येक वामाभिलाषी आत्मा को सम्बोधती हुई वेदमाता पुनः कहती है—आत्मन्! तू (उपयाम-गृहीतः असि) पृथिवी-गृहीत है, पार्थिव देह में निवास कर रहा है और तू स्वयं (सु-प्रतिस्थानः सु-शर्मा असि) सु-प्रतिस्थान सु-शर्मा है, सु-प्रतिस्थान सु-गृही है।

सु-प्रतिस्थान का अर्थ है वह यात्री जो एक प्रतिष्ठान से दूसरे प्रतिष्ठान को जाता है, एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव की ओर बढ़ता है।

शर्म नाम गृह का है। शर्मा का अर्थ है गृह में निवास करनेवाला, गृह-निवासी, गृही।

योगसाधक को यहां वेदमाता ने बहुत सुन्दर प्रेरणा दी है—आत्मन्! तेरी यह पार्थिव देह तेरा निवास-स्थान है और तू इसका सु-प्रतिष्ठानी सु-गृही है।

देह-निवास है, आत्मा सु-प्रतिष्ठानी सु-निवासी है। देह गृह है, आत्मा सु-पड़ावी सु-गृही है। देह मकान है, आत्मा मकीन है। मानव-देह एक सु-प्रतिष्ठान है, एक सुन्दर पड़ाव है और साधक का आत्मा है उसका एक सुप्रतिष्ठानी सुगृही।

देह-देहान्तरों में, प्रतिष्ठान-प्रतिष्ठान्तरों में, पड़ाव-पड़ावान्तरों में यात्रा करते हुए वामाभिलाषी साधक को विष्णु के परम धाम में पहुंचना है। यह मानव-देह ही वह सुप्रतिष्ठान है जिसमें विष्णु की प्राप्ति की प्रसाधना की जा सकती है। विनश्वर होने पर भी यह देह-पड़ाव वह प्रसाधन है जिसके आश्रय से इसका सुपड़ावी सुगृही आत्मा उस सुपावन लक्ष्य की सिद्धि कर सकता है।

मानव-देह की प्राप्ति के लिए विष्णु भगवान् को धन्यवादसूचक नमस्कार करता हुआ वामा-भिलाषी साधक कह उठता है—(बृहत्-उक्षाय नमः) महान् सिंचक के लिए नमस्कार। विष्णो! तू वह महान् सिंचक है जो अपनी दिव्य संदिव्य दिव्यताओं से अखिल सृष्टि को सींच रहा है। मैं (त्वा) तुझे, तुझ दिव्य देव को (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) सब देवों के लिये, समस्त दिव्यताओं की प्राप्ति के लिये [नमस्कारपूर्वक प्रार्थता हूं। मैं तुझसे सनमस्कार विनय करता हूं कि मुझमें उन सब दिव्यताओं को सींच दे जिनसे संचारित होकर मैं वाम का सेवन करता हुआ तेरी परम सत्ता में प्रवेश पा सकूं]।

और अपने बोध को जागृत रखने के लिए अपने आत्मा को सम्बोधन करता हुआ वह सदैव कहता रहता है—मेरे आत्मन्! (ते एषः योनिः) तेरी यह योनि, तेरी यह देह, तेरा यह जीवन (त्वा) तुझे (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) सकल देवों के लिये, अखिल दिव्यताओं के सम्पादन के लिये मिला है। तेरा यह मानव-जीवन तुझे व्यर्थ व्यासंगों में लिप्त रहने के लिये नहीं मिला है, दिव्य दिव्यताओं का सम्पादन करके वाम के सेवन तथा दिव्य देव की सम्प्राप्ति के लिये मिला है।

तू है पृथिवी-गृहीत,
तू है सुप्रतिष्ठान सुशर्मा,
नमस्कार महा सिंचक के लिए।
प्रार्थता हूं तुझे सकल दिव्यताओं के लिये,
तुझे मिली तेरी यह योनि
सकल दिव्यताओं के लिए॥

सूक्ति—सुशर्मासि।
तू [देह-गृह का] सुगृही है॥
बृहदुक्षाय नमः।
महान् सिंचक के लिये नमस्कार॥
एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः।
तेरी यह योनि तुझे सकल दिव्यताओं के
सम्पादन के लिए मिली है॥

उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतिसुतस्य देव सोम त
इन्दोरिन्द्रियावतः पत्नीवतो ग्रहाँ ऋध्यासम् ।
अहं परस्तादहमवस्ताद्यदन्तरिक्षं तदु मे पिताभूत् ।
अहं सूर्यमुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यत् ॥ (य ८/९)

उपयाम-गृहीतः असि बृहस्पति-सुतस्य देव सोम ते इन्दोः
इन्द्रिय-वतः पत्नी-वतः ग्रहान् ऋध्यासम् । अहं परस्तात् अहं
अवस्तात् यत् अन्तरिक्षं तत् उ मे पिता अभूत । अहं सूर्यं
उभयतः ददर्श अहं देवानां परमं गुहा यत् ॥

अपने आत्मसम्बोधन को जारी रखते हुए वामाभिलाषी योग-साधक कह रहा है—(देव सोम) दिव्यता तथा चन्द्रता के पुञ्ज ! तू (उपयाम-गृहीतः असि) पृथिवी-गृहीत है । पार्थिव देह में तेरा निवास है । पार्थिव देह में निवास करते हुए भी तू पार्थिव व्यासंगों से निर्लेप रहता हुआ जीवन-मुक्त रह सके, तदर्थ मैं (ते बृहस्पति-सुतस्य इन्दोः इन्द्रिय-वतः पत्नी-वतः) तुझ बृहस्पति-सुत इन्दु इन्द्रियवान् पत्नीवान् के (ग्रहान्) ग्रहों को (ऋध्यासं) समृद्ध करूं ।

योगसाधक ने यहां अपने आत्मा को "देव सोम" शब्दों से सम्बोधन किया है । निस्सन्देह आत्मस्वरूप से आत्मा देव सोम है, दिव्य और सोम्य है, संदिव्य और सुचन्द्र है, देदीप्यमान और आह्लादक है । पार्थिव देह के व्यासंगों में लिप्त होने से उसकी दिव्यता और चन्द्रता रुन्धित होरही है ।

और कैसा है वह आत्मा ? वह बृहस्पति-सुत है, बृहत् पति का सुत है, महान् स्वामी का पुत्र है, परम पिता का सुनिष्पन्न अमृत पुत्र हैं ।

वह इन्दु है, अमृत-बिन्दु है, अमृतत्व का केन्द्रबिन्दु है । पार्थिव देह में स्थित होकर देहरूप वह इन्द्रियवान् और पत्नीवान् है ।

"बृहस्पति-सुत इन्दु देव सोम ! इन्द्रियवान् और पत्नीवान् होने के कारण तुझमें ग्रहों, व्यासंगों, जकड़नों अथवा आसक्तियों के जो आरोपण होगए हैं, मैं उन्हें समृद्ध करदूं, समुदार करदूं, विमुक्त करदूं, खोल दूं" । साधक की इस उक्ति में एक वैदिक तत्त्व निहित है । इन्द्रियवान् और पत्नीवान् रहते हुए ही आत्मसाधक को वाम का सेवन और विष्णु की प्राप्ति करनी है । गृहस्थाश्रम ही वह योगश्रम है जहां पारस्परिक सहसाधना से उभय जन्मों की साध संसिद्ध होती है । उभय साध की सिद्धि के लिए गृह, परिवार, पत्नी और सन्तान के त्याग की आवश्यकता नहीं है, गृह-ग्रहों [गृह-आसक्तियों] के समृद्धिकरण की, विमुक्तिकरण की, खोलने की आवश्यकता है । आत्मसमृद्ध अथवा जीवन-मुक्त होकर इन्द्रियाचार तथा गृहस्थाचार योगसाधना में बाधक न होकर अतिशय साधक होता है । गृहस्थाश्रम ही है जहां पत्नी अपने पति का और पति अपनी पत्नी का आलिङ्गन करके सत्पति विष्णु के आलिङ्गन की अनुभूति प्राप्त करती/करता है ।

ग्रहों से अगृहीत, आसक्तियों से अनासक्त, बन्धनों से विमुक्त रहने के लिए पति कहता है, पत्नी कहती है—

१) (यत् अन्तरिक्षं) जो अन्त इक्ष है, जो अन्तःईक्षण है, जो अन्तःदृष्टि है, जो अन्तःनिरीक्षण है, (तत् उ मे पिता अभूत्) वह ही मेरा पिता होगया है, वह ही मेरा रक्षक बन गया है ।

ग्रहों से अगृहीत रहने का एक अद्वितीय साधन है अन्तःईक्षण, आत्मनिरीक्षण । यही, केवल एक

यही अचूक साधन है जिसके अवलम्ब से वामाभिलाषी गृहस्थ योगसाधक समस्त आसक्तियों से नितान्त अनासक्त रह सकता है। गृहस्थ हो या विरक्त, जो अन्तर्मुख होकर आत्मनिरीक्षण नहीं करता है वह अजाने अनायास निरन्तर आसक्तियों से बद्ध होता चला जाता है।

२) (अहं सूर्यं उभयतः) मैंने सूर्य को दोनों प्रकार/ओर से, (अहं परस्तात्) मैंने परे/दूर से, (अहं अवस्तात्) मैंने नीचे/निकट से, (ददर्श) देखा है।

सूर्य को निकट और दूर से देखना—यह एक वैदिक ईडियम है जिसका तात्पर्य है सूर्य के प्रकाश में जगत् को दूर और निकट से देखना, संसार को बाहर भीतर से उलट पलट कर निहारना, विवेक के प्रकाश में माया के सार असार को परखना। एक है सूर्य को देखना, दूसरा है सूर्य के प्रकाश में देखना। सूर्य के दर्शन से क्या लाभ, यदि सूर्य के प्रकाश में वस्तु के वास्तविक स्वरूप का दर्शन न किया। सूर्य को देखना और सूर्य के प्रकाश में वस्तु के वास्तविक स्वरूप को देखना—यही सूर्य का उभयतः दर्शन है।

ब्रह्मचर्याश्रम [विद्यार्थी-काल] में ब्रह्मचारी को जगत् के वास्तविक स्वरूप का, संसार के उतार चढ़ाव का, माया की मोहिनी भूल-भुलैयों का तात्त्विक ज्ञान नहीं हो पाता है। पति पत्नी के रूप में गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर साधनामय दाम्पत्य जीवन बिताने पर ही उस विवेक-सूर्य का उदय होता है जिसके प्रकाश में सार असार का, तत्त्व अतत्त्व का, शिव अशिव का निर्भ्रम और निर्भ्रान्ति ज्ञान होता है और तब ही पति भी और पत्नी भी, साधक भी और साधिका भी ग्रह परिग्रह का त्याग कर, निर्लेप और अनासक्त हो जीवन-मुक्त विदेह बनकर कर्त्तव्य-कर्मों का पालन करते हुए, सर्वतः अछूते रहते हुए, माया की मंज़िलों को पार करते हुए, विष्णु के परम धाम की ओर प्रगमन करते हैं।

३) (देवानां गुहा यत् परमं) देवों की गुहा में जो परम [विष्णु] है, (अहं) मैंने [उसे] (ददर्श) देखा है। सूर्य चन्द्र आदि देवों की गुहा [रहस्यमयी लीला] में जो परम सूर्य प्रकाश रहा है, विवेक के आश्रय से मैंने जिसे माया में प्रकाशते हुए देखा है, मैं उसी के निज स्वरूप के दर्शन का अभिलाषी हूं, मैं उसी के निज स्वरूप के दर्शन की अभिलाषिणी हूं। मैंने विवेक-नेत्र से माया में मायापति की महिमा को देखा है, आत्मसाधना द्वारा मुझे उसी के निज स्वरूप का दर्शन करना है।

माया में देखी है मैंने माया
मायापति विष्णु की।
उसके निज स्वरूप के दर्शन की
अभिलाषा निहित हृदय में॥

देव सोम,
है तू पृथिवी-गृहीत,
तुझ बृहस्पतिसुत इन्दु इन्द्रियवान् पत्नीवाले के
ग्रहों को समृद्ध करूं मैं।
जो अन्तरिक्ष हुआ है वह ही रक्षक मेरा।
मैंने दूर से, मैंने निकट से
मैंने है देखा सूर्य उभयतः।
जो परम देवों की गुहा में,
उसका अब दर्शन मैं पाऊं॥

सूक्ति—यदन्तरिक्षं तदु मे पिताभूत्।
जो अन्तःकरण वह ही मेरा रक्षक होगया है।
अहं सूर्यमुभयतो ददर्श।
मैंने सूर्य को उभयतः देखा है॥

अग्नाइ पत्नीवन्त्सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा ।
प्रजापतिर्वृषासि रेतोधा रेतो मयि धेहि प्रजापतेस्ते
वृष्णो रेतोधसो रेतोधामशीय ॥ (य ८/१०)

अग्ना+इ=अग्ने पत्नी-वन् सजूः देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा । प्रजा-पतिः वृषा असि रेतःधाः रेतः मयि धेहि प्रजा-पतेः ते वृष्णः रेतःधसः रेतःधां अशीय ॥

वामाभिलाषी गृहस्थ योगसाधक को सम्बोधन करती हुई वेदमाता सुप्रेरणा करती है—(पत्नी-वन् अग्ने) पत्नीवन् ज्ञानिन् ! गृहस्थ योगसाधक ! (स्वाहा) स्वाहुति द्वारा, आत्मसमर्पण द्वारा (देवेन त्वष्ट्रा सजूः) देव त्वष्टा से संजुष्ट होकर, दिव्य स्रष्टा से सप्रेम युक्त होकर (सोमं पिब) सोम पान कर, गृहसुख सेवन कर, गृहस्थ के आनन्द भोग ।

गृहसुख सेवनीय हैं । गृहस्थ के आनन्द सुसेवनीय हैं। किन्तु उनमें लिप्त न होना चाहिए । गृहसुख सर्वोपरि सुख है, पारिवारिक प्रीतियां तृप्त और तुष्ट करनेवाली प्रीतियां हैं, गृह के आनन्द लोक और परलोक के आनन्दों का द्वार खोलनेवाले हैं, दाम्पत्य जीवन उभय जन्मों की साध का परमोत्कृष्ट साधन है; बशर्तेकि पति का जीवन साधनामय हो और उसकी पत्नी की वृत्तियां विष्णुमयी हों और साथ ही पति अपनी पत्नी सहित सम्पूर्ण भावना से प्रभु को समर्पित होकर, अपि च अपनी सम्पूर्ण प्रीति से दिव्य स्रष्टा से युक्त रहता हुआ गृहस्थाश्रम का निर्वहन और दाम्पत्य जीवन का संवहन करे ।

आत्मना देव त्वष्टा से संयुक्त समाहित रहकर दाम्पत्य जीवन का संवहन और अलिप्त अनासक्त रहकर गृहसुखों का संसेवन सरल कार्य नहीं है, बड़ी कठोर और कठिन साधना है । अतः वेदमाता की उपर्युक्त प्रेरणा से प्रप्रेरित होकर पत्नीवान् [गृहस्थ] साधक प्रभु से प्रार्थना करता है—

१) देव त्वष्टः ! दिव्य स्रष्टः ! सृष्टि की सुरचना करनेवाले देव ! तू (असि) है (प्रजा-पतिः) प्रजा-पति, (वृषा) वर्षणशील, सिंचनशील, वृष्टि करनेवाला, सींचनेवाला और (रेतःधाः) वीर्य-धारक । तू (मयि) मुझमें (रेतः धेहि) वीर्य धारण-स्थापन कर ।

प्रजा नाम प्र जा का है, प्रकृष्ट जन का है, प्रकृष्ट जनसमूह का है । देव त्वष्टा विष्णु प्रजनों का पति है, प्रकृष्ट जनों का रक्षक है ।

वह प्रजनों का वृषा है । वह प्रकृष्ट जनों पर सुख, सौभाग्य और आनन्द की वृष्टि करता है और उन्हीं में रेत का धारण करता है, उन्हीं में वीर्य [बल, पराक्रम] स्थापन करता है ।

देव त्वष्टा से आत्मना संयुक्त रहकर गृहसोम का पान करना —इसके लिये आत्म-रेत की, आत्मसंबल की, आत्म-वीर्य की आवश्यकता है । इसी अनुभूति से गृहस्थ योगसाधक ने देव त्वष्टा से विनय की है—सृष्टिकर्तः देव ! तू प्रजनों का रक्षक, वर्षक और वीर्यधारक है । मुझमें उस रेत [बल, वीर्य] का संचार कर जिसके आश्रय से मैं तुझसे आत्मना संयुक्त रहता हुआ गृहसोम का सेवन कर सकूं ।

२) देव त्वष्टः ! मैं (ते प्रजा-पतेः वृष्णः रेतःधसः) तुझ प्रजापति, वर्षक, रेतधारक के (रेतःधाम्) वीर्य-धा को (अशीय) सेवन करूं ।

"देव त्वष्ट ! तू रेतधारक रेतधाम है, बल वीर्य का अक्षय कोश है । तुझसे संजुष्ट रहता हुआ मैं

सदा उस आत्मवीर्य से सुसम्पन्न रहूं, जिसके द्वारा उभय जन्मों की साध संसिद्ध की जाती है।"

पत्नीवन् अग्ने,
तू रहता हुआ जुष्ट देव त्वष्टा से
सोम पान कर।
तू है प्रजापति वृषा रेतोधा,
मुझमें रेत स्थापन करदे।
मैं संसेवन करूं सदा
तुझ प्रजापति वृषा रेतोधा के
रेत-धाम को॥

सूक्ति—सोमं पिब स्वाहा।
प्रभु को सुहुत समर्पित होकर सोम पान कर॥

उपयामगृहीतोऽसि हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यां त्वा।
हर्योर्धाना स्थ सहसोमा इन्द्राय॥ (य ८/११)

उपयाम-गृहीतः असि हरिः असि हारि-योजनः हरिभ्यां त्वा।
हर्योः धानाः स्थ सह-सोमाः इन्द्राय॥

देव त्वष्टा से विनय करके पत्नीवान् वामाभिलाषी योगसाधक अब अपने आत्मा को सम्बोधन करने लगता है—

१) मेरे आत्मन्! तू (उपयाम-गृहीतः असि) पृथिवी-गृहीत है। पार्थिव देह में तेरा निवास है। इसीसे तू पार्थिव व्यासंगों और आसक्तियों से ग्रस्त है, मायाजन्य विलासों और वासनाओं से त्रस्त है।

२) किन्तु तू स्वयं स्वात्मरूप से (हारि-योजनः हरिः असि) हारि-योजन हरि है।

हरि का अर्थ है हरण करनेवाला, निवारण करनेवाला, आकर्षित करनेवाला, खींचनेवाला, पहुंचनेवाला, पहुंचानेवाला। रथ को खींचकर अभीष्ट स्थान पर पहुंचानेवाला होने से अश्व हरि है। भक्तों को आकर्षित करने और उनके दुःखों का निवारण करनेवाला होने से परमात्मा हरि है। आत्मजागरण होने पर आत्मा मानव के समस्त व्यासंगों और आसक्तियों का तथा सकल विलासों और वासनाओं का निवारण करके उसे अभीष्ट की ओर खींच ले जाता है। इसी भाव से यहां आत्मा को हरि कहा गया है।

हारि-योजन का अर्थ है हरि को युक्त करनेवाला, घोड़ों को रथ में जोड़नेवाला, हरियों को नियन्त्रण में रखनेवाला, हरियों को युक्त समाहित रखनेवाला। मानव-जीवन दश-रथ है, दशाश्व-रथ है, दस घोड़ोंवाला रथ है। आत्म-अवस्थित हरि [आत्मा] सुसारथि के समान जीवन-रथ को विष्णु के परम धाम की ओर हांके लिए जाने में समर्थ होता है। आत्मविस्मृत हरि [आत्मा] कुंसारथि के समान जीवन-रथ का नाश करके परम धाम की यात्रा से विमुख होजाता है। इसी भाव का द्योतन करते हुए कहा गया है, "मेरे आत्मन्! तू जीवन-रथ में जुड़े दशाश्वों को सुसारथिवत् हांकनेवाला हरि है, सुसारथि है। अपने अश्वों को सकल व्यासंगों और वासनाओं से बचाता हुआ विष्णु के परम पद की ओर बढ़। विलासों और आसक्तियों का निवारण करता हुआ द्रुत गति से अभीष्ट पद की ओर प्रगमन कर। जीवन ढल रहा है। समय जा रहा है। शीघ्रता कर"।

३) समस्या विकट है। रात्रि निकट है। समय बहुत थोड़ा है। यात्रा बहुत लम्बी है। आत्मा विह्वल हो उठता है। अपने आपको जागृत-बुद्ध-प्रबुद्ध करके आत्मा आत्मना बोल पड़ता है, "रे आत्मन्! विधाता ने (त्वा) तुझे (हरिभ्यां) दो हरियों [अश्वों] से [सुयुक्त किया है]"।

कौन-से हैं ये दो हरि! वे हैं मन और बुद्धि, संकल्प और चिन्तन। मन की गति संकल्पमय है

और बुद्धि की है चिन्तनमय। एक शिव, शुद्ध और स्वस्थ मानव-मन के संकल्प की लहरों की गति प्रति सैकिण्ड इक्यासी लाख मील है तो एक स्वस्थ, स्थिर और शुद्ध मस्तिष्क के चिन्तन की लहरों की गति प्रति सैकिण्ड सड़सठ लाख बीस हज़ार मील है। "ऐसे तीव्रगामी दो हरि तेरे जीवन-रथ में जुड़े हैं। फिर विह्वलता क्यों और चिन्ता क्या"। शिव संकल्प और शिव चिन्तन की महिमा प्रत्यक्ष है।

वामाभिलाषी साधक जीवनरथ में जुड़े अपने उभय हरियों को सवेग और सचेत दौड़ाता हुआ लक्ष्य को ओर उड़ा चला जा रहा है और मार्ग में मिलनेवाले मानवों को उत्प्रेरणा करता जाता है—"तुम सब भी (सह-सोमाः) सोमों-सहित (इन्द्राय) इन्द्रार्थ, इन्द्रियों के स्वामी आत्मा के प्रति (हर्योः धानाः) दोनों हरियों के धारक (स्थ) हो। तुम्हारे जीवनरथ में निज-निज आत्मा की वैष्णवी यात्रा के लिए मन और बुद्धि अथवा संकल्प और चिन्तन रूपी दो अश्व जुड़े हुए हैं। तुम सब मेरी तरह उस अन्तिम सुलक्ष्य की ओर सह-सोम अनुधावन करो"।

"सह-सोमाः" का प्रयोग यहां अतिशय तथ्यपूर्ण तथा रहस्यपूर्ण है। सोम नाम पूर्ण चन्द्र का है। चन्द्र की ज्योति आह्लादिका तथा पथ-प्रदर्शिका है। "जितनी भी ज्योतियां हैं, जितनी भी ज्योतिर्मयी प्रसाधनाएं हैं, उन सबके आह्लादक आश्रय से इस माया-रात्रि में तुम उस ज्योतिर्धाम की ओर प्रगमन करो"।

है तू पृथिवी-गृहीत,
तू है हरि हारि-योजन,
युक्त किया है तुझे तीव्र शिव दो हरियों से।
तुम सब स्व स्व इन्द्र के लिए
सोमों-सहित उभय हरियों के संधारक हो॥

यस्ते अश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिस्तस्य त इष्टयजुष
स्तुतस्तोमस्य शस्तोक्थस्योपहूतस्योपहूतो भक्षयामि ॥ (य ८/१२)
यः ते अश्व-सनिः भक्षः यः गो-सनिः तस्य ते इष्ट-यजुषः
स्तुत-स्तोमस्य शस्त-उक्थस्य उप-हूतस्य उप-हूतः भक्षयामि ॥

आत्मसम्बोधन द्वारा संकल्प और चिन्तन की ध्रुवता का सम्पादन करके वामाभिलाषी साधक अब उरुगाय विष्णु को आत्मसमर्पण करके उसमें सम्प्रविष्ट होता हुआ कहता है—विष्णो! (ते) तेरा (यः अश्व-सनिः) जो अश्व-प्रद, (यः गो-सनिः) जो गो-प्रद (भक्षः) भक्ष है, (उप-हूतः) उप-हूत मैं (तस्य ते इष्ट-यजुषः स्तुत-स्तोमस्य शस्त-उक्थस्य उप-हूतस्य) उस तुझ इष्ट-यजुष् स्तुत-स्तोम शस्त-उक्थ उप-हूत के [भक्ष को] (भक्षयामि) भक्षण करता हूं।

साधक ने यहां विष्णु को इष्ट-यजुष्, स्तुत-स्तोम, शस्त-उक्थ तथा उप-हूत—इन चार विशेषणात्मक नामों से संज्ञित किया है।

यजुष् का इष्ट, श्रेष्ठतम कर्मों की साधना का साध्य, होने से विष्णु इष्ट-यजुष् है। सब शुभ अनुष्ठानों और श्रेष्ठ साधनाओं का लक्ष्य विष्णु की प्राप्ति ही है।

स्तोमों-स्तुतियों द्वारा स्तुता जाने से विष्णु स्तुत-स्तोम है। सब वेद उसकी स्तुति कर रहे हैं। सर्वत्र सब ज्ञानी जन उसकी महिमा का गान कर रहे हैं।

प्रशस्तियों द्वारा जिसका उक्थन-वर्णन किया जाता है, प्रशंसनीय आदर-सूचक उक्थों-वचनों में जिसका कथन किया जाता है, उसे शस्त-उक्थ कहते हैं। सर्वत्र सभी आस्तिक जन विष्णु का शस्त-प्रशस्त शब्दों में प्रकथन करते हैं। अतः विष्णु शस्त-उक्थ है।

उप नाम समीप का हैं। हूत का अर्थ है पुकारा गया। सर्वान्तर्यामी होने से विष्णु सबके उप-समीप है। योगसाधक अन्तर्मुख होकर आत्म-निकटता के साथ उसे पुकारते हैं। विष्णु भी अन्तःप्रेरणारूप शब्दों में ब्राह्म-निकटता के साथ साधकों को पुकारता है। अतः विष्णु और साधक दोनों ही उपहूत हैं।

तुमसे मैं करता हूं बातें, मुझसे तुम करते हो बात।
तुम मेरे उप-हूत हो, मैं तुम्हारा उप-हूत हूं॥

अश्व प्रतीक है आशुगामिता का, शीघ्रता का। गो नाम है किरण अथवा रश्मि का। अतः अश्व-सनि का अर्थ है शीघ्रताकारी और गो-सनि का अर्थ है रश्मि-प्रद, रश्मित करनेवाला। भक्ष नाम है भोजन का। विष्णु वह भक्ष है जिसके सेवन से साधक शीघ्रता के साथ विष्णु की रश्मियों से रश्मित होता हुआ विष्णुरूप होता चला जाएगा।

जो जिसमें समर्पित [प्रविष्ट] होता है वह उसी का भक्षण करता है और उसके गुणों को अपने भीतर संचारित करके उसी की आकृति से आकृत होजाता है। काला कोयला जब अग्नि में समर्पित होता है तो वह अग्नि का भक्षण करता है, अपने भीतर अग्नि का संचार करता है और बहुत शीघ्र अग्नि के गुणों से युक्त होकर अग्नि की आकृति से आकृत होजाता है, अग्निरूप होजाता है।

वैसे ही वामाभिलाषी योगसाधक ने सर्वभावेन सर्वात्मना विष्णु में आत्मसमर्पण कर दिया है। अब वह विष्णु के अश्वसनि तथा गोसनि भक्ष का भक्षण कर रहा है। उसमें शीघ्रता के साथ विष्णु की रश्मियां संचार कर रही हैं। तीव्र गति के साथ वह वैष्णवी गुणों से गुणोपेत होता जारहा है। वह विष्णुरूप होता चला जारहा है। उसके सब संचित पाप [मल विक्षेप] भस्म होते जारहे हैं। आनन्द-मग्न होकर साधक कहता है—

१) भक्षयामि ब्रह्मौदनम्।
मैं ब्रह्म-चावल खाता हूं॥
२) पिबामि ब्रह्मामृतम्।
मैं ब्रह्म-अमृत पीता हूं॥

भक्ष तेरा जो,
है वह अश्वसनि और गोसनि।
उस तुझ इष्ट-यजुष् के,
स्तुत-स्तोम के,
शस्त-उक्थ के,
सु-उप-हूत के,
उस सुभक्ष को,
मैं उपहूत कर रहा भक्षण॥

देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि मनुष्यकृतस्यैनसो ऽवयजनमसि पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमस्यात्मकृतस्यैनसो ऽवयजनमस्येनस एनसोऽवयजनमसि। यच्चाहमेनो विद्वाँश्चकार यच्चाविद्वाँस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि॥ (य ८/१३)

देव-कृतस्य एनसः अव-यजनं असि मनुष्य-कृतस्य एनसः अव-यजनं असि पितृ-कृतस्य एनसः अव-यजनं असि आत्म-कृतस्य एनसः अव-यजनं असि एनसः एनसः अव-यजनं असि। यत् च अहं एनः विद्वान् चकार यत् च अविद्वान् तस्य सर्वस्य एनसः अव-यजनं असि॥

वामाभिलाषी योगसाधक प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा है कि विष्णु में सुहुत-समर्पित होकर उसके सकल मल एक एक करके भस्म होते चले जारहे हैं और वह निरन्तर निर्मल होता चला जारहा है। अपने इस सतत पूतीकरण की अनुभूति पर वह आभार-सूचक शब्दों में कहता जाता है—

१) विष्णो ! तू (देव-कृतस्य एनसः) देव-कृत् एनस् का (अव-यजनं असि) क्षीण करनेवाला है।

एनस् नाम पाप, दोष, मल, भूल, अपराध और कुसंस्कार का है। देव जन जितने महान् होते हैं, उनकी भूलें भी उतनी ही विनाश-कारिणी होती हैं। जहां देवों की देनें, देवों के दान, देवों के त्याग अतिशय सर्वजन-कल्याण-कारी होते हैं, वहां उनकी भूलों के परिणाम भी अनिष्टकर होते हैं। गौतम बुद्ध देव थे, दिव्य जन थे इसमें सन्देह नहीं। किन्तु उनकी अहिंसा तथा भिक्षु-प्रथा की असामाजिक अतिशयता से भारत की जनता में जिन नपुंसक तथा दीन संस्कारों का समंकन हुआ, उनकी उस भूल के कुफल भारत राष्ट्र न जाने कब तक चखता रहेगा। शंकराचार्य निस्सन्देह दिव्य देव थे। किन्तु आत्मा को ब्रह्म और जगत् को मिथ्या बताने की उनकी भूल ने रहे सहे राष्ट्रीय ओज का जो ध्वनसन किया, उसके कुसंस्कार आज भी हमारे संस्कारों में समंकित हैं।

साधक जानता है कि उसमें देवकृत एनस् के कुसंस्कार निहित हैं और वह प्रत्यक्ष देख रहा है कि विष्णु-अग्नि में सुहुत होने से उसके देवकृत एनस् के संस्कार उसी प्रकार भस्म होरहे हैं जिस प्रकार अग्नि में प्रविष्ट होकर स्वर्ण के विकार भस्म होजाते हैं। इसी तथ्य का प्रकाशन करते हुए उसने कहा है "विष्णो! तू देवकृत पाप का निवारक है"।

२) विष्णो ! तू (मनुष्य-कृतस्य एनसः अव-यजनं असि) मनुष्य-कृत एनस् [कुसंस्कार] का पृथक् करनेवाला है।

मनुष्य-कृत एनस् से तात्पर्य यहां सामाजिक दूषित वातावरण से है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज के वातावरण का प्रत्यक्षतः मानव के संस्कारों पर प्रभाव पड़ता है। समाज के वातावरण से जो कुसंस्कार समंकित होते हैं वे छुटाये नहीं छुटते हैं। योगसाधक अनुभव कर रहा है कि उसके समाजकृत कुप्रभाव तथा कुसंस्कार भी विष्णु-अग्नि में भस्म होते चले जारहे हैं। उसी भाव को व्यक्त करते हुए वह कह रहा है "विष्णो! तू समाजकृत पाप को पृथक् करने-वाला है"।

३) विष्णो ! तू (पितृ-कृतस्य एनसः अव-यजनं असि) पितृ-कृत पाप का नाशक है।

माता पिता से प्राप्त पैत्रिक कुसंस्कार भी आत्मसाधना में बाधक होते हैं और मिटाए नहीं मिट पाते हैं। योगसाधक प्रत्यक्ष देख रहा है कि वैष्णवाग्नि में सुहुत होने से उसके पैत्रिक कुसंस्कार भी भस्म होते जारहे हैं। इसी रहस्य का प्रकाशन करता हुआ वह कह रहा है "विष्णो ! तू पैत्रिक कुसंस्कारों का भस्म करनेवाला है"।

४) विष्णो ! तू (आत्म-कृतस्य एनसः अव-यजनं असि) आत्म-कृत पाप का अव-यजक है।

आत्मकृत पाप से तात्पर्य है स्वयं-कृत पापों के परिणामस्वरूप समंकित कुसंस्कार। स्पष्टतः स्वात्मकृत कुसंस्कार भी वैष्णवाग्नि में भस्म होते चले जारहे हैं और साधक आत्मसन्तोष के साथ कह रहा है "हृदयरम ! तू आत्मकृत मल का शोधक है"।

५) एवमेव वैष्णवाग्नि में सुहुत होने से उसका एक एक पाप, एक एक कुसंस्कार, धुलता चला जारहा है। इसी अनुभूति का द्योतन करता हुआ वह प्रगान कररहा है—विष्णो ! तू (एनसः एनसः) पाप पाप का, प्रत्येक कुसंस्कार का (अव-यजनं असि) शोधक है। (अहं) मैंने (एनः) पाप (यत् च)

चाहे तो (विद्वान्) जानते हुए (चकार) किया, (यत् च अविद्वान्) चाहे न जानते हुए, तू (तस्य सर्वस्य एनसः) उस सबके कुसंस्कार का (अव-यजनं असि) शोधनेवाला है।

एक विष्णुरूपी दिव्याग्नि ही है, जिसमें अनुरक्त और समाहित होकर योग-साधक के जन्म-जन्म के सब प्रकार के कुसंस्कार, विकार, वासना सर्वतः और सर्वथा तिरोहित होजाते हैं।

देवकृत पाप का शोधक है तू,
मनुष्यकृत पाप का शोधक है तू,
पितृकृत पाप का शोधक है तू,
आत्मकृत पाप का शोधक है तू,
पाप पाप का शोधक है तू।
चाहे जानते या अजानते,
मैंने पाप किया, उस सबके
कुसंस्कार का तू शोधक है॥

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्॥
[य २/२४, ८/१६] (य ८/१४)

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिः अगन्महि मनसा सं शिवेन।
त्वष्टा सुदत्रः वि-दधातु रायः अनु-मार्ष्टु तन्वः यत् वि-लिष्टम्॥

विष्णु में सुहुत-समर्पित-समाहित रहने से प्रत्येक वामाभिलाषी योगसाधक के देवकृत, मनुष्यकृत, पितृकृत, आत्मकृत—चारों प्रकार के पापजन्य संस्कार सर्वथा धुल गये हैं। एक एक करके वैष्णव योग के सकल साधक नितान्त निर्मल और निष्पाप होगए हैं। अतः आत्मसन्तोष के साथ वे विष्णु से विनय कर रहे हैं—

१) विष्णो! तुझमें प्रविष्ट सुहुत समाहित रहकर हम (वर्चसा पयसा सं-अगन्महि) वर्च और पयस् से संयुक्त होगए हैं।

वर्चस् नाम कान्ति, तेज, दीप्ति का है। पयस् नाम है पेय, सरसता और आनन्द का। यहां वर्चस् का प्रयोग कान्ति के लिए और पयस् का प्रयोग आनन्द के लिए हुआ है। विष्णु परम कान्तिमान् और आनन्दस्वरूप है। उसमें समाहित होकर योगसाधक सर्वात्मना कान्तियुक्त तथा आनन्दमय होगए हैं और आत्मविभोर होकर कह रहे हैं—विष्णो! तुझसे समाहित होकर हम कान्तिमान् और आनन्दयुक्त होगये हैं।

२) विष्णो! तुझमें समाहित रहने से हम (तनूभिः सं-अगन्महि) तनुओं से संयुक्त होगये हैं।

तनु नाम विस्तार अथवा विस्तारसाधन का है। विस्तार-साधन होने से ही शरीर, देह अथवा जीवन का नाम भी तनु है। तनु शब्द का प्रयोग यहां संजीवन से युक्त जीवन के लिये हुआ है। विष्णु से युक्त समाहित होकर ही जीवन जीवन बनता है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए योगसाधकों ने कहा है—विष्णो! तुझमें समाहित होकर हम संजीवन से युक्त जीवनों से सम्पन्न हुए हैं।

३) विष्णो! तुझमें समाहित होकर हम (शिवेन मनसा सं-अगन्महि) शिव मन से संयुक्त होगये हैं।

जिस मन में सदा शिव संकल्प ही उद्बुद्ध होते हैं, जिस मन से सदैव कल्याणकारिणी भावनायें ही प्रभावित होती हैं, वही मन शिव मन कहलाता है। प्रत्यक्षतः विष्णु में समाहित मन शिवता से युक्त होजाता है। योगासाधक कहते हैं—विष्णो! तुझमें समाहित होने से हमारे मन शिव मन होगये हैं, हमारे मन वैष्णव मन बन गये हैं, हमारे मनों में शिवता बस गयी है।

विष्णु से विनय करने के उपरान्त शिव मन से संयुक्त हुए वे मनोकामना करते हैं—(सुदत्रः त्वष्टा) सुदत्र त्वष्टा, सुदानी तक्षक [हममें] (रायः)

आत्मैश्वर्यों को (वि-दधातु) वि-धारण/प्रस्थापन करे, (तन्वः यत् वि-लिष्टं) जीवन की जो परिपूर्णता है [उसे निरन्तर] (अनु-मार्ष्टु) मांजता-शोधता-निखारता रहे ॥

जो सु का, शुभ श्रेष्ठ का दान करता है उसे सुदत्र कहते हैं। त्वष्टा नाम है तराश कर, सूक्ष्म करके, सुन्दरता के सम्पादन करनेवाले का। विष्णु सुदत्र है। जो उसमें सुहुत समाहित रहता है, वह उसमें शुभ श्रेष्ठ गुणों का संचार करता रहता है। विष्णु त्वष्टा है। जो उसका हो जाता है, वह उसके मलों तथा असुन्दरताओं को तराश तराश कर उसमें जीवन-सौन्दर्य का सम्पादन कर देता है।

लिश् अल्पीभावे। लिष्ट का अर्थ है अल्पता, न्यूनता, अपूर्णता। विगतो लिष्टम् विलिष्टम्। अपूर्णता का वियुक्त होना लिष्ट है। अतः विलिष्ट का अर्थ है परिपूर्णता। उस विष्णु में जो सर्वभावेन समाहित रहता है, उसके जीवन की परिपूर्णता न केवल अक्षुण्ण बनी रहती है, अपि तु उसकी परिपूर्णता का सतत निखार होता रहता है।

इसी स्वानुभूत तत्त्व का प्रकाशन करते हुए योगसाधक कह रहे हैं—सुदानी त्वष्टा हममें सतत आत्मैश्वर्य स्थापित रखे और उसमें समाहित रहने से हममें जिस परिपूर्णता का सम्पादन हुआ है उसका उसके द्वारा सदैव निखार होता रहे।

होगए हम संयुक्त वर्चस् पयस् से,
होगए हम संयुक्त संजीवनों से,
होगए हम संयुक्त शिव मन से।
स्थापन करे हममें
त्वष्टा सुदत्र सकलात्मैश्वर्य,
जीवन की जो परिपूर्णता
निखारता रहे उसे ॥

सूक्ति—त्वष्टा सुदत्रो वि दधातु रायः।
त्वष्टा सुदत्र स्थापन करे सकलात्मैश्वर्य ॥
अनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्।
निखारता रहे जीवन की जो परिपूर्णता ॥

समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः सं सूरिभिर्मघवन्त्सं स्वस्त्या।
सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्ति सं देवानां सुमतौ यज्ञियानां स्वाहा ॥
[ऋ ५-४२.४, अ ७.९७.२] (य ८/१५)

सं इन्द्र नः मनसा नेषि गोभिः सं सूरिभिः मघवन् सं स्वस्त्या।
सं ब्रह्मणा देव-कृतं यत् अस्ति सं देवानां सुमतौ यज्ञियानां स्वाहा ॥

विष्णु में सतत समाहिति से निरन्तर जीवन की परिपूर्णता का जो निखार होता रहा है, उससे योगसाधकों के जीवनों के प्रत्येक पार्श्व में दिव्यतायें निहित होती चली जारही हैं। विष्णु के इस महान् प्यार और उसकी इस महान् कृपा के लिए आभार प्रकट करते हुए वे सानन्द कह रहे हैं—

१) इन्द्र! (यत् देव-कृतं अस्ति) जो देव-कृत है, तू (नः) हमें (मनसा सं-नेषि) मन से सम्प्राप्त करा रहा है।

लोकलोकान्तर-रूपी इन्द्रियों का तथा उनमें निहित सकलैश्वर्यों का स्वामी होने से विष्णु को यहां इन्द्र नाम से पुकारा गया है।

दिव्यताओं से जो सुनिष्पन्न हो उसे देव-कृत कहते हैं।

"इन्द्र! जो कुछ दिव्यताओं से सुनिष्पन्न है, वह सब तू हमें मन द्वारा प्राप्त करा रहा है। अपनी सम्पूर्ण दिव्यता से तू हमारे मन को दिव्य और हमारे मन के संकल्पों को संदिव्य कर रहा है।"

२) इन्द्र! (यत् देव-कृतं अस्ति) जो कुछ देवकृत है, तू (नः) हमें (गोभिः सं-नेषि) इन्द्रियों से सम्प्राप्त करा रहा है। अपनी सम्पूर्ण दिव्यता से तू हमारी इन्द्रियों को दिव्य और उनकी धारणाओं को संदिव्य कर रहा है।

३) (मघ-वन्) ऐश्वर्य-वन्! ऐश्वर्यशाली विष्णो! (यत् देव-कृतं अस्ति) जो कुछ देवकृत है, तू (नः) हमें (स्वस्त्या) स्वस्तिपूर्वक, कुशलता के साथ (पूरिभिः) प्रज्ञाओं द्वारा (सं-नेषि) सम्प्राप्त करा रहा है। अपनी सम्पूर्ण दिव्यता से तू हमारी स्वस्ति को दिव्य और हमारी प्रज्ञाओं को संदिव्य कर रहा है।

४) मघवन्! (यत् देव-कृतं अस्ति) जो कुछ देवकृत है, तू (नः) हमें (ब्रह्मणा सं-नेषि) संज्ञान द्वारा सम्प्राप्त करा रहा है। अपनी सम्पूर्ण दिव्यता से तू हमारे ज्ञान को दिव्य संदिव्य कर रहा है।

५) मघवन्! (यत् देव-कृतं अस्ति) जो कुछ देवकृत है, तू (नः) हमें (यज्ञियानां देवानां सुमतौ सं-नेषि) यज्ञीय दिव्यताओं की सुमति में सम्प्राप्त करा रहा है। अपनी सम्पूर्ण दिव्यता से तू हमारी सुमति में दिव्य यज्ञीयताओं और संदिव्य दिव्यताओं का संचार कर रहा है।

६) (स्वाहा) स्व-आ-हा, पूर्ण आत्मसमर्पण।

स्व का अर्थ है आत्मा, आहा। आ का अर्थ है पूर्ण। हा का अर्थ है त्याग, अर्पण, समर्पण। स्वाहा शब्द का प्रयोग यहां पूर्ण आत्मसमर्पण के अर्थ में हुआ है। जहां पूर्ण समर्पण होता है, वहीं पूर्ण तद्रूपता होती है। कोयला जब सम्पूर्णतया अग्नि में आत्मसमर्पण करता है, तब ही वह अग्निरूप होता है। योगसाधकों ने स्वाहुति द्वारा विष्णु में पूर्ण आत्मसमर्पण किया है और वे विष्णुरूप होते जारहे हैं, विष्णु की यज्ञीय दिव्यतायें उनके जीवन के अङ्ग अङ्ग में संचारित होती जारही हैं।

इन्द्र! मघवन्!
है जो कुछ दिव्य,
स्वस्ति के साथ हमें तू
सम्प्राप्त करा रहा है मन से,
सम्प्राप्त करा रहा है इन्द्रियों से,
सम्प्राप्त करा रहा है प्रज्ञाओं से,
सम्प्राप्त करा रहा है संज्ञान से,
सम्प्राप्त करा रहा है यज्ञीय दिव्यताओं की सुमति में।
सदा सर्वदा रहें हम
पूर्णतया आत्मसमर्पित तुझमें॥

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन।
त्वष्टा सुदत्रो वि दधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्॥

[य २/२४, ८/१४] (य ८/१६)

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिः अगन्महि मनसा सं शिवेन।
त्वष्टा सुदत्रः वि-दधातु रायः अनु-मार्ष्टु तन्वः यत् वि-लिष्टम्॥

जीवन की पूर्णता के जिस सतत निखार से योगसाधकों के जीवनों में सर्वाङ्गीण दिव्यता की सम्प्राप्ति होरही है, उसकी सन्तत प्राप्ति के लिये वे पुनः पुनः विष्णु से विनय करते हुए कहते रहते हैं—

१) विष्णो! तुझमें समाहित रहते हुए हम (वर्चसा पयसा सं अगन्महि) कान्ति और आनन्द से युक्त होगये हैं, (तनूभिः सं-अगन्महि) संजीवनों से संयुक्त होगये हैं, (शिवेन मनसा सं-अगन्महि) शिव मन से संयुक्त होगये हैं।

२) (सुदत्रः त्वष्टा) सुदाता त्वष्टा [हममें] (रायः वि-दधातु) आत्मैश्वर्यों को प्रस्थापन करे, (तन्वः यत् वि-लिष्टं) जीवन की जो परिपूर्णता है, उसे (अनु-मार्ष्टु) निखारता रहे।

होगये हम संयुक्त कान्ति आनन्द से,
होगये हम संयुक्त संजीवनों से,
होगये हम संयुक्त शिव मन से ।

स्थापन करे हममें
त्वष्टा सुदत्र सकलात्मैश्वर्य,
जीवन की जो परिपूर्णता
निखारता रहे उसे ॥

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपा देवो अग्निः ।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणा यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहा ॥

[अ ७. १७. ४] (य ८/१७)

धाता रातिः सविता इदं जुषन्तां प्रजा-पतिः निधि-पाः देवः अग्निः ।
त्वष्टाः विष्णुः प्रजया सं-रराणाः यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहा ॥

जीवन की परिपूर्णता से योगसाधकों के जीवनों में जो निखार आया है, उससे उनके जीवनों में जिन ब्राह्मी शक्तियों का विकास होरहा है, उनसे सन्तृप्त होता हुआ प्रत्येक साधक कह रहा है—

१) (धाता रातिः सविता प्रजा-पतिः निधि-पाः देवः अग्निः त्वष्टाः विष्णुः) धाता, राति, सविता, प्रजापति, निधिपा, देव, अग्नि, त्वष्टा, विष्णु (इदं) इस [जीवन] को (जुषन्ताम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करें।

धाता का अर्थ है धारक। यहां इस शब्द का प्रयोग धारणा अथवा धारण-क्षमता के अर्थ में हुआ है।

राति नाम दाता का है। यहां राति का प्रयोग हुआ है सुदेनों की क्षमता के लिये ।

सविता नाम है प्रेरक और प्रकाशक का। यहां सविता का प्रयोग हुआ है सवितृ-क्षमता के अर्थ में ।

प्रजापति का अर्थ है प्रजा का रक्षण पालन करनेवाला। यहां इस शब्द का प्रयोग हुआ है प्राजापत्य के अर्थ में ।

निधिपा का अर्थ है निधि की रक्षा करनेवाला। यहां इस शब्द का प्रयोग हुआ है मानवीय शाश्वत निधियों की रक्षा करने की क्षमता के अर्थ में ।

देव शब्द का प्रयोग हुआ है यहां दिव्यता के अर्थ में, अग्नि का अग्रनयन के अर्थ में ।

त्वष्टा नाम है कुशल कारीगर का। यहां इसका प्रयोग हुआ है संसृजन-क्षमता अथवा सुरचन-कौशल के अर्थ में ।

विष्णु का अर्थ है व्यापक। यहां इस शब्द का प्रयोग हुआ है व्याप्ति अथवा व्यापनशीलता के अर्थ में ।

"ये ब्राह्म क्षमतायें तथा शक्तियें मेरे जीवन को प्रीतिपूर्वक सेवती रहें"—प्रत्येक साधक की यह मनोकामना कितनी स्वाभाविक और आनन्दप्रद है। एक वैष्णव जीवन में ये क्षमतायें होनी ही चाहियें।

२) वे तुम सब ब्राह्म गुणो! (प्रजया) मानव प्रजा के साथ (सं-रराणाः) संरमण करते हुए [मुझ] (यजमानाय) यज्ञशील के लिये (स्वाहा) सु-आहुति-पूर्वक, यज्ञीयतापूर्वक (द्रविणं) धन, ऐश्वर्य (दधात) धारण करो, प्राप्त कराते रहो।

उपर्युक्त सम्पूर्ण क्षमताओं का संरमण अथवा सदुपयोग प्रजाहित अथवा लोककल्याण के लिये ही है। प्रजाहित अथवा लोककल्याण में जो निरत हैं, उन्हें यज्ञीयतापूर्वक विष्णु भगवान् के विधान से धनैश्वर्य की यथेच्छ प्राप्ति सदैव होती रहती है। जो सेवा करते हैं वे मेवा पाते हैं। जो जनसेवा करते हैं वे जन-स्वामी बनते हैं।

सस्नेह सेवन करें मेरे इस जीवन को धारणा
देनक्षमता सवितृत्व प्राजापत्य निधिपात्व
दिव्यता अग्रनयन संसृजत्व व्यापनशीलता।
वे तुम संरमण करते हुए प्रजा के साथ
स्वाहुतिपूर्वक मुझ यजमान के लिए
धारण करो धनैश्वर्य ॥

सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्मेदं सवनं जुषाणाः ।
भरमाणा वहमाना हवींष्यस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वाहा ॥
[ऋ ७. ९७. ४] (य ८/१८)

सु-गा वः देवाः सदना अकर्म ये आ-जग्म इदं सवनं जुषाणाः ।
भरमाणाः वहमानाः हवींषि अस्मे धत्त वसवः वसूनि स्वाहा ॥

(देवाः) देवो ! (ये) जिन हमने (वः) तुम्हारे लिए (सु-गा सदना) सु-गमनीय सदन (अकर्म) किए-बनाए हैं, जो हम (इदं सवनं आ-जग्म) इस सवन को प्राप्त हुए हैं; (वसवः) वसुओ ! (स्वाहा) स्वाहुतिपूर्वक (हवींषि) हवियों को (जुषाणाः) सप्रीति सेवन करते हुए, (भरमाणाः) धारण करते हुए, (वहमानाः) वहन करते हुए (अस्मे) हमारे लिये (वसूनि) वसुओं को (धत्त) धारण/प्रदान करो—यह कौन कह रहे हैं और किनसे कह रहे हैं ? यह विष्णु के वामाभिलाषी योग-साधक-साधिका कह रहे हैं और विष्णुपथ-गामी देवों और देवियों से तथा वसुओं से कह रहे हैं ।

देव और देवियां हैं ही वे जो विष्णुदेव के दिव्य पथ के पथिक हैं । नास्तिकों और अधार्मिकों को देव देवी कहना उन शब्दों के साथ मिथ्याचार है । और वसवः भी वे ही हैं जो अपने प्राण के समान विष्णु को प्यार करते हैं और अपनी सम्पूर्ण भावना से प्राणेश विष्णु भगवान् में वास [निवास] करते हैं ।

सदना शब्द का प्रयोग यहां सुस्थिर आध्यात्मिक अभ्यासों तथा आदर्शों के लिये हुआ है जिनके आश्रय से विष्णु-भक्त सुगमता के साथ विष्णु के परम पद की ओर प्रगमन करते रहेंगे ।

सवन नाम यज्ञ का है, उस यज्ञ का नहीं जिसमें भौतिक सामग्री और घृत की आहुति दी जाती हैं, अपि तु उस यज्ञ का जिसमें स्वाहुति [स्व की, आत्मा की आहुति] दी जाती है, विष्णु को आत्म-समर्पण किया जाता है ।

हवींषि हैं आध्यात्मिक यज्ञ की वे प्रीतियां, प्रेमप्रतीतियां, स्तुतियां, प्रेमभेंटें जो भक्ति-भावना के साथ आराध्य देव को अर्पण की जाती हैं ।

वसूनि का प्रयोग हुआ है यहां भौतिक साधनों तथा धनैश्वर्यों के लिये, जिनके बिना विश्व में वैष्णव भावना की संव्याप्ति नहीं की जा सकती ।

पूर्व मन्त्र में उल्लिखित क्षमताओं से सम्पन्न होकर योगसाधकों ने इस मन्त्र में कहा है—(देवाः) देवपथगामी देवो और देवियो ! (वसवः) विष्णु को प्राणप्रिय मानकर अपनी सम्पूर्ण भावना से विष्णु में निवास करनेवालो ! (ये) जिन हमने (वः) तुम्हारे लिये (सुगा सदना) सुगमता के साथ आचरणीय अभ्यास (अकर्म) निष्पादन किये हैं, (स्वाहा) विष्णु को आत्मसमर्पण द्वारा हमने जो (इदं सवनं आ-जग्म) यह अध्यात्म यज्ञ सम्पादन किया है, (हवींषि) अध्यात्म हवियां निष्पादित की हैं, तुम उन सबको (जुषाणाः भरमाणाः वहमानाः) सेवन, धारण और वहन करते हुए (अस्मे) हमारे लिये (वसूनि) साधनरूप धनैश्वर्यों को (धत्त) धारण करो, प्रदान करते रहो ।

देवो ! वसुओ ! तुम्हारे लिये,
जिन हमने निर्माण किया है
सुगमनीय सदनों का;
स्वाहुति द्वारा हमने जो यह
सवन किया सम्पादन;
उन हवियों को करते हुए
सेवन धारण और वहन तुम,
अर्पण करो हमारे लिये
साधनरूप धनैश्वर्यों को ॥

याँ आ ऽ वह उशतो देव देवांस्तान् प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे ।
जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्वेऽसुं घर्मं स्वरातिष्ठतानु स्वाहा ॥
[ऋ ७. ९७. ३]   (य ८/१९)

यान् आ-अवहः उशतः देव देवान् तान् प्र-ईरय स्वे अग्ने सध-स्थे ।
जक्षिवांसः पपिवांसः च विश्वे असुं घर्मं स्वः आ-तिष्ठत-अनु स्वाहा ॥

सर्वसाधनों से सम्पन्न होते हुए योगसाधक वैष्णव मिशन की संव्याप्ति करते चले जारहे हैं। उनका आत्मोत्साह उमड़ता चला जा रहा है। अपने अपने आत्मा को सम्बोधन करते हुए वे कहते हैं—(देव अग्ने) दिव्य अग्ने ! तू (यान् उशतः देवान्) जिन कामनाशील देवों को, विष्णु के परम पद की प्राप्ति की कामना करनेवाले देवपथगामी जिन देवों और देवियों को (आ-अवहः) प्राप्त हुआ करे, (तान्) उन्हें (स्वे सध-स्थे) अपने सह-स्थान में, अपनी निकटता में (प्र-ईरय) प्रेर, सुप्रेरणा कर।

स्वरूप से आत्माग्नि दिव्य है। माया [प्रकृति] से प्रकृत शरीर है त्रैगुण्य, सत् रज तम त्रिगुणों से युक्त। योगसाधना द्वारा आत्म-अवस्थित होकर जब साधक सर्वात्मना विष्णु में समाहित रहने लगता है तो वह शरीर से भी और आत्मा से भी विष्णु की दिव्य दिव्यता से संदिव्य रहता है और उसका जीवन वह दिव्याग्नि बन जाता है जो अपने सम्पर्क में आनेवाले सकल विष्णु-कामी देवों और देवियों को अपनी निकटता में आकर्षित करके उन्हें सुप्रेरणा करता है, उन्हें अग्निवत् निज रूप से रूपित कर देता है।

और अब देवों और देवियों को आत्मसम्बोधन करता हुआ प्रत्येक योगसाधक प्रेरणा करता है—विष्णु-पद-कामी देवो और देवियो ! तुम (विश्वे) सब (जक्षिवांसः च पपिवांसः) खाते हुए और पीते हुए (असुं) असु को, (घर्मं) घर्म को, (स्वः) स्व को (स्वाहा) स्वाहुतिपूर्वक (अनु-आ-तिष्ठत) अनु-आ-स्थित रहो।

असु नाम प्राण, जीवन, प्रज्ञा और प्रचेतना का है। प्राणी का प्राण ही जीवन है और जीवन में प्रज्ञा अथवा प्रचेतना ही भौतिक और आत्मिक उभय साधनाओं का अचूक साधन है।

घर्म नाम यज्ञ, शुभ श्रेष्ठ साधना और तेज का है। यज्ञ से तेज की वृद्धि होती है। प्रत्येक यज्ञीय कर्म से तेज की सिद्धि तथा वृद्धि होती है और तेज ही यज्ञीय कर्मों का आधार है। निस्तेज व्यक्ति यज्ञीय साधना नहीं कर सकते।

स्वः नाम मोक्ष तथा आनन्द का है। असु और घर्म, प्रज्ञा और यज्ञ, प्रचेतना और आत्मसाधना का लक्ष्य मोक्ष तथा आनन्द की प्राप्ति है। मोक्ष में ही आनन्द है। बन्ध में आनन्द कहां !

और इन सबकी सफल साधना तथा सिद्धि तब ही होती है जब साधक सर्वात्मना विष्णु को समर्पित होकर अपनी सम्पूर्ण भावना से विष्णु में समाहित रहता है। इसीलिये योगसाधक सर्वमानवों को प्रेरित करते हुए कहते रहते हैं, "सब देवो और देवियो ! खाते पीते, उठते बैठते प्रति क्षण विष्णु को समर्पित रहते हुए असु और घर्म के आश्रय से स्वः की साधना करो। मानव जीवन का लक्ष्य स्वः की सिद्धि ही है"।

दिव्य आत्मन्,
प्राप्त होवे तू
जिन भी कामनामय देवों को,
प्रेर उन्हें तू स्व सधस्थ में।
खाते और पीते हुए तुम सब ही रहो स्वाहुति-सहित,
असु घर्म स्वः को सम्प्राप्त ॥

सूक्ति—तान् प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे।
आत्माग्ने ! उन्हें अपनी निकटता में सुप्रेरणा कर ॥

वयं हि त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह।
ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः प्रजानन् यज्ञमुप याहि विद्वान्त्स्वाहा ॥ (य ८/२०)
वयं हि त्वा प्र-यति यज्ञे अस्मिन् अग्ने होतारं अवृणीमहि इह।
ऋधक् अयाः ऋधक् उत अशमिष्ठाः प्र-जानन् यज्ञं उप-याहि विद्वान् स्वाहा ॥

विष्णु-योग का साधक जहां जहां असु, घर्म और स्वः की सम्प्राप्ति की प्रेरणा करता है, वहीं वहीं सर्वजन सम्प्रेरित, सुप्रभावित तथा लाभान्वित हो हो कर उसके प्रति अपनी आत्मीयता का परिचय देते हुए उससे आत्म-निवेदन करते हैं—

१) (अग्ने) ज्ञानिन्! पावक! शोधक! विष्णु के परम सौन्दर्य से सुप्रदीप्त योगिन्! (वयं) हमने (हि) निश्चय से (इह) यहां (अस्मिन् प्र-यति यज्ञे) इस प्र-यति यज्ञ में (त्वा होतारं) तुझ होता को (अवृणीमहि) वरण कर लिया है।

विष्णु-योग को यहां प्रयति यज्ञ की संज्ञा दी गयी है। प्रयति यज्ञ उस यज्ञ को कहते हैं जिसमें प्र-यत्न अथवा प्र-साधना की जाती है। विष्णु के साक्षात्कार का योग प्रत्यक्षतः साधारण साधना की नहीं, प्र-साधना की अपेक्षा रखता है।

होता नाम यज्ञ-सम्पादक का है। विष्णु-योग का साधक निस्सन्देह एक अतिशय प्रयति यज्ञ का सम्पादक है। योग-यज्ञ में निष्णात होता को ही प्रयति यज्ञ के निष्पादन के लिये वरण किया जाना चाहिये। प्रयति यज्ञ का होता संशोधक और प्रसाधनाशील गुरु ही हो सकता है और उसी को इस यज्ञ के सुसम्पादन के लिये वरण करना चाहिये। इसी शिक्षा का यहां प्रकाशन किया गया है। कितना सुन्दर सम्बोधन है यह जनता की ओर से योग-साधक के प्रति—"निष्णात योगिन्! यहां इस प्रसाधनामय यज्ञ में हमने तुझे ही होता वरण कर लिया है"।

२) क्योंकि तूने (ऋधक् अयाः) ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करली है (उत) और (ऋधक् अशमिष्ठाः) ऋद्धि को शमन कर लिया है, सिद्धि को पचा लिया है।

ऋद्धि प्राप्त ऋद्ध ही ऋद्धि का शमन करता है। सिद्धि-प्राप्त सिद्ध ही सिद्धि को पचा पाता है। अऋद्ध, असिद्ध, अपक्व योगी तो ज़रा सी सिद्धि पाकर ही आपे से बाहर होजाता है और अपने को सर्वतोमहान् समझने लगता है। वह संसिद्ध सुपक्व योगी ही होता है जो ऋद्धि सिद्धि को अपने भीतर पचाकर अहंकाररहित हुआ समता के साथ सबको योग का दिव्य पथ दर्शाता है। जो पचाता है वह ही सुसम्पन्न होकर सर्वजनों को प्रसाधना में प्रशस्त करता है।

३) (विद्वान्) प्राज्ञ तू (प्र-जानन्) प्र-जानता हुआ, यथावत् जानता हुआ (स्वाहा) स्वाहुतिपूर्वक (यज्ञं उप-याहि) यज्ञ को उपगमन कर, यज्ञ का सम्पादन करा।

विष्णु-योग अथवा प्रयति यज्ञ के सुष्ठु संचालन के लिये प्रज्ञान ही सुपर्याप्त नहीं है, उसके लिए स्व सर्वस्व की सु-आहुति भी देनी होती है। योग-साधक विष्णु-यज्ञ का सम्पादक है। वह जहां भी जाता है, सर्वत्र सर्वजन उससे लाभान्वित होकर उसका अभिनन्दन करते हुए उसके सुपावन चरणों में विनय करते हैं—"मर्मज्ञ योगिन्! तेरी साध परमोत्कृष्ट और संदिव्य है। सर्वतः प्रज्ञासम्पन्न रहता हुआ तू अपने सब शुभ श्रेष्ठ की सु-आहुति देकर विश्वकल्याणार्थ इस प्रयति यज्ञ का सुसम्पादन करता रह"।

अग्ने हमने वरण किया है
निश्चय से तुझ होता को ही
यहां इस प्र-यति सुयज्ञ में।
तूने की है प्राप्त ऋद्धि और

तूने पचाया है सिद्धि को;
तू विद्वान् प्रजानता हुआ
कर सम्पादन प्रयति-यज्ञ का
स्व सर्वस्व की आहुति देकर ॥

सूक्ति—प्रजानन् यज्ञमुप याहि ।
जानकर यज्ञ सम्पादन कर;
जानकार ज्ञात की साधना कर ॥

देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ।
मनसस्पत इमं देव यज्ञं स्वाहा वाते धाः ॥
[य २/२१] (य ८/२१)
देवाः गातु-विदः गातुं वित्त्वा गातुं इत ।
मनसःपते इमं देव यज्ञं स्वाहा वाते धाः ॥

सम्प्रेरित और सुप्रभावित दिव्यताभिलाषी आत्म-निवेदकों को सम्बोधन करते हुए विष्णु-योग का साधक कहता जारहा है—(देवाः) देवो! देव-पथ के पथिको! विष्णु के परम पद के अभिलाषी देवो और देवियो! (गातुं वित्त्वा) मार्ग को जानकर, गमनीय पथ को पहुंचान कर, (गातुं-विदः) मार्गवित् [तुम], गमनीय पथ को पहुंचाननेवाले [तुम] (गातुं) गातु को/पर, मार्ग को/पर, गमनीय पथ को/पर (इत) चलो, गमन करो।

यहां विष्णु-योग-साधक ने अपने अभिनन्दनकर्ता देवों और देवियों को एक गहन और सुन्दर चेतावनी दी है—"मैंने तुम्हें अध्यात्म-पथ दर्शाया है। मेरा अभिनन्दन करके ही उसकी श्री और इति न कर देना। मेरा काम मार्ग दर्शाना है। मैंने तुम्हें मार्ग दर्शा दिया है। गमनीय मार्ग का ज्ञान प्राप्त करके, मार्गवित् बनकर, उस मार्ग पर प्रगमन करो। तब ही मेरा श्रम सार्थक होगा और तुम्हारा वास्तविक कल्याण होगा"।

गद्गद् होकर सम्बोधित देव-देवियां विष्णुयोग-साधक से पुनः अभिनन्दनात्मक आत्मनिवेदन करते हैं—(देव मनसःपते) दिव्य मनसस्पते! (इमं यज्ञं) इस यज्ञ को (स्वाहा) यज्ञीयता के साथ (वाते धाः) वात पर धारण-स्थापन कर।

विष्णुयोगसाधक को यहां दिव्य मनसस्पते कहकर पुकारा गया है। मनसस्पति का अर्थ है मनसःपति, मन की रक्षा करनेवाला, प्रेम से सबके मनों पर आधिपत्य करनेवाला, मल विक्षेप आदि से अन्तःकरण की रक्षा करनेवाला। निस्सन्देह योगसाधक वह गुरु है जो योगमार्ग के प्रेमियों के मनों की रक्षा करता है, उनके अन्तःकरणों का निर्मलीकरण तथा द्योतन करता है।

स्पष्टतः यज्ञ शब्द का प्रयोग यहां पूर्व मन्त्र में पठित प्रयति यज्ञ के लिये हुआ है।

प्रत्यक्षतः स्वाहा प्रतीक है यहां प्रयति यज्ञ की यज्ञीयता का।

वात गतिसुखसेवनेषु। वात नाम उस वायु का है, जिसकी गति सुखद और सुसेवनीय हो। प्रातःकालीन सुसेवनीय शीतल मन्द समीर वात है, क्योंकि उसके सेवन से सुख, स्वास्थ्य और सौन्दर्य की उपलब्धि होती है। वात पर धारण या स्थापन एक वैदिक ईडियम है जिसका आशय है सुखप्रदता और सुसेवनीयता के साथ प्रगति के पथ पर आरूढ़ करना।

कितना आस्थापूर्ण और सार्थक अभिनन्दनात्मक आत्मनिवेदन है यह—देव मनसस्पते! अन्तःकरणों के दिव्य संशोधक संद्योतक! अपनी यज्ञीयता से हमारे प्रयति यज्ञ को वात पर स्थापन करदे।

अपनी यज्ञीयता से इस प्रयति यज्ञ की प्रसाधना को सुखप्रद और सुसेवनीय बनादे।
देवो,
मार्ग जानकर,
बनो मार्गवित्,
चलो मार्ग पर।
अन्तःरक्षक देव,
वात पर प्रस्थापन कर
इस सुयज्ञ को,
यज्ञीयता के साथ॥
सूक्ति—गातुं विस्वा गातुमित।
मार्ग जानकर मार्ग पर चलो॥
देव यज्ञं स्वाहा वाते धाः।
देव, यज्ञ को यज्ञीयता से सुखप्रद और सुसेवनीय बना।

यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा।
एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा॥
[अ ७. ९७. ५-६] (य ८/२२)

यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा।
एषः ते यज्ञः यज्ञ-पते सह-सूक्तवाकः सर्व-वीरः तं जुषस्व स्वाहा॥

विष्णुयोगसाधक के प्रति अपने अभिनन्दनात्मक आत्मनिवेदन को जारी रखते हुए देव-देवियां कहे चले जारहे हैं—

१) (यज्ञ) साक्षात् यज्ञस्वरूप ! प्रयति यज्ञ के याजक ! (यज्ञं गच्छ) यज्ञ को जा, यज्ञ को प्राप्त रह, यज्ञ को किये चला जा, साध की साधना किये चला जा।

मन्त्र २० में जिस विष्णुयोगसाधक को प्रयति यज्ञ का होता कहा गया है उसी को यहां यज्ञ शब्द से सम्बोधन किया गया है और जिस यज्ञ के सन्तत्तन के लिये यहां प्रेरणाप्रद आत्मनिवेदन किया गया है वह वही विष्णुयोग यज्ञ है जिसे मन्त्र २० में प्रयति यज्ञ की संज्ञा दी गयी है।

२) यज्ञ ! (यज्ञ-पतिं गच्छ) यज्ञपति को जा, यज्ञपति को प्राप्त रह।

यज्ञपति शब्द का प्रयोग यहां प्रयति यज्ञ के परम साध्य स्वयं विष्णु भगवान के लिये हुआ है।

विष्णु यज्ञ के याजक को स्वयं यज्ञपति विष्णु को सम्प्राप्त रहते हुए, सर्वभावेन उससे आत्मना संगत रहते हुए, ही इस समुदात्त यज्ञ का सम्पादन करते रहना है।

३) यज्ञ ! (स्वां योनिं गच्छ) अपनी योनि को जा, अपने आत्मस्वरूप में अवस्थित रह।

स्पष्टतः आत्म-अवस्थित रहता हुआ ही विष्णु यज्ञ का याजक उस यज्ञ की विश्व-व्याप्ति कर सकेगा।

४) यज्ञ ! हम तुझपर (स्वाहा) स्व सर्वस्व न्योछावर करें, तेरे प्रति तन मन धन अर्पण करें, बलिहारी जायें।

विष्णु यज्ञ के ऐसे सुसम्पादक के ऊपर क्यों न मानव अपना स्व सर्वस्व न्योछावर करेंगे।

५) (यज्ञ-पते) ! (ते एषः यज्ञः) तेरा यह यज्ञ है (सह-सूक्तवाकः) सह-सूक्तवाक और (सर्व-वीरः) सर्व-वीर।

विष्णु यज्ञ अथवा प्रयति यज्ञ के सम्पादक को यहां यज्ञ-पति कहा गया है। यज्ञपति का अर्थ है यज्ञ की रक्षा करनेवाला, यज्ञ का सम्पादन करनेवाला।

सह-सूक्तवाकः का अर्थ है सु-उक्त-वचनोंवाला और सर्ववीरः का अर्थ है सर्व-वीरों और सर्ववीर्यों वाला। सहसूक्तवाकः यज्ञः नाम उस यज्ञ का है जिसका सम्पादन याजक सु-वचनों से सहित रहता

हुआ करता है, जिसके निष्पादन में याजक सदैव सु-वचनों का ही प्रयोग करता है। सर्व-वीरः नाम उस यज्ञ का है जिसके सब सम्पादक सकल वीर्यों [पराक्रमों] से सुयुक्त होते हैं और जिसके अनुष्ठान से सर्वजन वीर वीराङ्गना बन जाते हैं।

"विष्णु यज्ञ के सम्पादन की साधना सुवचनों, वीरों और वीर्यों की अपेक्षा रखती है, कुवचनों कायरों और विलासों की नहीं"। विष्णु यज्ञ की व्याप्ति के याजक को देवों और देवियों की ओर से यह प्रशस्तिपूर्ण प्रेरणा कितनी गहन और गम्भीर है!

६) यज्ञ! (तं जुषस्व) उसे सप्रीति सेवन-सम्पादन कर।

जुष प्रीतिसेवनयोः। सुवचन और सर्ववीरत्व निस्सार हैं यदि उनमें प्रीति का संचरण न हो। हृदय के स्नेह से शून्य सुवचन तथा वीर्य का महत्त्व ही क्या है। सुवचन, सुवीर्य और सुस्नेह-इस त्रित में ही प्रयति यज्ञ की सफल साधना निहित है। किसी भी यज्ञ के साफल्य का मूलसूत्र यह त्रित ही है।

७) हम तुझपर (स्वाहा) स्व सर्वस्व न्योछावर करें, तेरे प्रति तन मन धन अर्पण करें, बलिहारी जायें।

यज्ञ,
यज्ञ को सम्प्राप्त रह,
रह सुसंगत यज्ञपति से,
रह अवस्थित आत्मस्वरूप को,
हम तुझपर बलि जायें।
यज्ञपते,
तेरा यह यज्ञ है,
सह-सु-उक्त-वाक सर्ववीर और,
उसका सेवन कर सप्रेम तू,
हम तुझपर बलि जायें॥

सूक्ति—स्वां योनिं गच्छ।
अपने स्वरूप को पहचान॥
अपने स्वरूप को प्राप्त रह॥

माहिर्भूर्मा पृदाकुः। उरूं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय
पन्थामन्वेतवा उ। अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता
हृदयाविधश्चित्। नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाशः॥
[ऋ १. २४. ८] (य ८/२३)

मा अहिः भूः मा पृदाकुः। उरूं हि राजा वरुणः चकार सूर्याय
पन्थां अनु-एतवै उ। अ-पदे पादा प्रति-धातवे अकः उत अप-वक्ता
हृदय-विधः चित्। नमः वरुणाय अभि-स्थितः वरुणस्य पाशः॥

जब किसी साधक पर जनता जी जान से फ़िदा होरही होती है, तब कुछ विघ्नसन्तोषी हृदयहीन अपवक्ता उसका विरोध भी कर रहे होते हैं और कुवाचों से उसका हृदय भी वेध रहे होते हैं। जनता द्वारा मान और विघ्नसन्तोषियों द्वारा अपमान-दोनों ही परिस्थितियां साधक की कठिन परीक्षा लेती हैं। यदि साधक मान से अहम्मन्य बन जाता है और अपमान से चिड़कर छल और अहिंसा का अवलम्ब करता है, तो उसका निश्चय ही पतन होजाता है, उसकी साध असिद्ध पड़ी रह जाती है और उसकी साधना भ्रष्ट होजाती है।

पूर्व मन्त्रानुसार जनता साधक पर बलिहारी जारही है और उसका अभिनन्दन कररही है। इससे ईर्ष्यालुओं की ईर्ष्या उमड़ पड़ी है और वे उसे लाञ्छित करते हुए वे उसे गालियां देरहे हैं। साधक को सावधान करती हुई वेदमाता कह रही है—

१) प्रयति यज्ञ के साधक ! (राजा वरुणः) प्रकाश-मान् वरणीय विष्णु ने (हि) निश्चय से (सूर्याय) सूर्य के लिये (उरुं पन्थां) विशाल पथ (चकार) बनाया है, तुझे (उ) वही (अनु-एतवै) अनुसरण करने के लिये है।

सूर्य का पथ बहुत विशाल है। करोड़ों अरबों खरबों मील के क्षेत्र में व्यापकर सूर्य अपनी किरणों से प्रकाश, परिपाक और जीवन संचार कररहा है। यदि क्षुद्र उल्लू और चिमगादड़ उसका विरोध कररहे हैं तो क्या इतने मात्र से विचलित होकर सूर्य क्षुद्रता का आश्रय लेता है? नहीं, कदापि नहीं। वह तो अपने विशाल पथ में विशाल कार्य ही करता रहता है।

विष्णु यज्ञ के साधक को भी क्षुद्र प्राणियों के विरोध से क्षुद्रता को प्राप्त न होकर सूर्य का ही अनुकरण करना चाहिये। उसे विशालाशयता के साथ सुविशाल क्षेत्र में अपनी विशाल साधना में ही संलग्न रहना चाहिये।

२) साधक ! तू (मा अहिः भूः मा पृदाकुः) न अहि हो, न पृदाकु।

अहि नाम सर्प का है। पृदाकु कहते हैं फाड़ खानेवाले हिंसक पशु को। सर्प विषधर और छलकर है। पृदाकु हिंसक है। विरोधी अपवक्ता साधक के प्रति विष उगलते हैं तो उगला करें और छल करते हैं तो किया करें। साधक तो निर्विष और निश्छल ही रहेगा। विरोधी हिंसा पर उतारू हैं तो हुआ करें। साधक तो हिंसकों में भी संजीवन का ही संचार करेगा। जिसके भीतर जो भरा है वह वही देगा। उनके भीतर विष, छल, हिंसा और गालियां भरी पड़ी हैं, वे वही देंगे। साधक के जीवन में अमृत, निश्छलता, संजीवन और सुवचन भरे हैं, वह वही देगा। "वे सर्प और पृदाकु का भाग निर्वहन करते हैं तो किया करें। तू स्वयं न सर्प बन, न पृदाकु"।

३) (उत) और (हृदय-विधः अप-वक्ता चित्) हृदय-वेधी दुर्भाषी भी (पादा) दो पाद [रखता है, किन्तु उनका प्रयोग उसने] (अ-पदे प्रति-धातवे) अपद में प्रति-धावन [पीछे की ओर दौड़ने] के लिये (अकः) किया है।

हृदय को वेधनेवाला अपवक्ता भी कोई महत्त्व रखता है। उसकी हस्ती भी कोई हस्ती है। वह दो पैर रखता है। दो पैरों से वह आगे को नहीं दौड़ता हैं, पीछे को दौड़ता हुआ जाता है। वह आगे नहीं जा रहा है, उल्टा जा रहा है। वह प्रगमन प्रगति नहीं कर रहा है, अपनी दुर्गति कर रहा है। वह गन्तव्य में नहीं जारहा है, अपद [अगन्तव्य] में जारहा है। जहां नहीं जाना चाहिये वह वहां जारहा है।

४) साधक ! तू प्रतिगामी न बन, पीछे न लौट, (वरुणाय नमः) वरुण के लिये नमस्कार कर, वरणीय विष्णु देव के प्रति नतमस्तक रह, श्रद्धा और निष्ठा के साथ उसके पथ पर प्रगमन करता रह।

५) स्मरण रख, (वरुणस्य पाशः अभि-स्थितः) वरुण की पाश सब ओर स्थित है। वरणीय विष्णु देव की पाश सर्वत्र कसी हुई है।

"न्यायनियन्ता प्रभु की न्याय-पाश सर्वत्र विद्यमान है। वह न्यायकारी है। दुर्जनों के दुर्व्यवहार से खिन्न न हो। प्रभु के न्याय में विश्वास रख और साधना के सुपथ पर आरूढ़ रह"।

राजा वरुण ने सूर्यार्थ जो
उरु पथ है निर्माण किया,
वही अनुकरण के लिए है।
तू न अहि बन, न पृदाकु,
और हृदय-विध अपवक्ता के
पाद हैं दो, जारहा अपद में,
कि प्रति-धावन किया है उसने।

रह वरुण के प्रति नतमस्तक,
कसी ओर सब पाश वरुण की ॥
सूक्ति—माहिर्भूर्मा पृदाकुः ।
न सर्प बन, न दरिन्दा ॥

नमो वरुणाय ।
नमस्कार वरुण के लिये ॥
अभिछितो वरुणस्य पाशः ।
वरुण की न्यायपाश सब ओर स्थित है ॥

अग्नेरनीकमप आ विवेशापां नपात् प्रतिरक्षन्नसुर्यम् ।
दमेदमे समिधं यक्ष्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत् स्वाहा ॥
(य ८/२४)

अग्नेः अनीकं अपः आ-विवेश अपां न-पात् प्रति-रक्षन् असुर्यम् ।
दमे-दमे सं-इधं यक्षि अग्ने प्रति ते जिह्वा घृतं उत्-चरण्यत् स्वाहा ॥

सूर्य अग्निपुञ्ज है। सबमें सर्वत्र जो अग्नि है, वह सब सूर्य से प्रक्षरित है। सूर्याग्नि की जो किरणें समुद्र के जल को क्षाररहित करके बादलों के रूप में समुद्र की सतह से ऊपर उठाती हैं, उन किरणों की वह आग्नेय शक्ति ही पवन को उत्तेजित अथवा वेगयुक्त करके उन बादलों को सैकड़ों हज़ारों मील दूर लेजाकर बरसाती और भूमि पर वनस्पति जगत् में संजीवन का संचार करती है, असंख्य खाद्यों और पेयों का संसृजन करती है। जहां जहां भी बादल वृष्टि करते हैं—घर डगर में, वन पर्वत में, खेत क्षेत्र में, कुंए तालाब में, नदी नाले में —सर्वत्र वारि-धन का संचार करते हैं।

अग्नि-याग अथवा अग्निहोत्र में भी अग्नि का अनीक कार्य करता है। सर्वप्रथम प्रत्येक यज्ञवेदिका में चयन की गयी समिधाओं में अग्नि का आधान किया जाता है। आधान किया गया अग्नि समिधाओं में प्रविष्ट होकर उनमें व्याप्त अग्नि को प्रज्वलित करता है। प्रज्वलित समिधाओं पर "स्वाहा" के साथ घृत और हवि की आहुतियां दी जाती हैं, जिससे सैकड़ों हज़ारों मील के क्षेत्र में सुगन्धि, पवित्रता और नैरोग्य की व्याप्ति होजाती है।

इन दोनों विज्ञानों की उपमा देती हुई वेदमाता साधक के प्रति पुनः कहती है—

१) (अग्नेः अपां न-पात्) अग्नि का जलों को न गिरानेवाला, अग्नि का जलों को ऊपर उठानेवाला (असुर्यं अनीकम्) मेघीय रश्मिसमूह (प्रति-रक्षन्) प्रति-रक्षण करता हुआ (अपः आ-विवेश) जलों को आवेशे हुए है, जलों को व्यापे हुए है।

अग्नि सर्वव्यापक है। वह आकाश, पवन, जल, पृथिवी—सबमें व्यापा हुआ है। अग्नि का आदि स्रोत सूर्य है। सूर्य अपनी किरणों द्वारा अग्नि का सर्वत्र प्रसार कर रहा है। वह अपनी मेघोत्पादक रश्मि-समूह द्वारा सागर के जलों को हल्का करके मेघ के रूप में सागर से ऊपर उठाता है, उन्हें नीचे नहीं गिरने देता है। फिर उन बादलों को बादल के रूप में प्रतिरक्षित रखता हुआ पवन के आश्रय से अग्नि ही उन्हें दूर दूर प्रदेशों में लेजाकर घर घर और खेत खेत में बरसाता है और संसार को हरा भरा करता है। सागरों के जलों में व्यापा हुआ अग्नि निरन्तर अनवरत यह कार्य करता रहता है।

विष्णु-याग अथवा प्रयति यज्ञ का साधक भी तो ब्रह्माग्नि की मानव प्रजाओं को न गिरानेवाला, उन्हें ऊपर उठानेवाला वह असुर्य अनीक है, वह प्राणप्रद रश्मिपुञ्ज है जो सर्वजनों में व्यापकर और उन्हें संजीवन से अनुप्राणित करके उनके आत्मतत्त्व की प्रतिरक्षा करेगा और उन्हें देवदूत बनाकर उनसे अखिल विश्व में विष्णु-योग का प्रसारण करायेगा।

२) (अग्ने) प्रकाशपुञ्ज ! अग्निवत् प्रज्वलित और प्रकाशित साधक ! अपां नपात् अग्नि के समान ही

तू (दमे-दमे) घर घर में (सं-इधं) समिधा को (यक्षि) संगत कर।

यज्ञवेदिका में प्रवेश करके यज्ञाग्नि जिस प्रकार प्रत्येक समिधा का स्पर्श करके उसे प्रज्वलित और प्रकाशित करती है, उसी प्रकार विष्णु-योग के साधक को घर घर में प्रवेश करके मानवजीवनरूपी प्रत्येक समिधा को अपने सुसंगतिमय संस्पर्श से प्रबुद्ध करना है।

३) साधक! घर घर में प्रत्येक जीवन-समिधा को प्रज्वलित [प्रबुद्ध] करने के लिए (ते जिह्वा) तेरी वाणी (स्वाहा) स्वाहुति द्वारा, अपना आपा खोकर, (प्रति) प्रत्येक के प्रति (घृतं उत्-चरण्यत्) घृत उत्क्षरण करे, स्नेह का संचार करे।

घृत स्नेह का प्रतीक है। घृत की स्निग्धता ही बुझती हुई यज्ञाग्नि को प्रज्वलित कर देती है। उसी प्रकार अहंकाररहित साधक की आत्मीयतामयी वाणी साधक के आत्मस्नेह का संचार करती हुई जन जन की बुझती हुई आत्माग्नि को प्रज्वलित करती चली जाए।

जलों को न गिरानेवाला
अग्नि का प्रतिरक्षण करता हुआ
असुर्यं अनीक
प्रवेशे हुए है जलों को।
साधक प्रकाशपुञ्ज!
घर घर में संगत कर जीवन-समिध को।
स्वाहुति द्वारा तेरी जिह्वा,
प्रत्येक के प्रति,
करे उत्क्षरण स्नेहघृत॥

सूक्ति—दमेदमे समिधं यक्ष्यग्ने।
प्रकाशपुञ्ज! घर घर में जीवन-समिध को संगत कर॥

प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत्।
तेरी वाणी प्रत्येक के प्रति स्नेह उंडेले॥

समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः।
यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत्स्वाहा॥
[य २०/१९]
(य ८/२५)

समुद्रे ते हृदयं अप्सु अन्तः सं त्वा विशन्तु ओषधीः उत आपः।
यज्ञस्य त्वा यज्ञ-पते सु-उक्त-उक्तौ नमःवाके विधेम यत् स्वाहा॥

प्रयति यज्ञ का याजक घर घर में अलख जगाता हुआ जन जन के प्रति अपनी वाणी से स्नेहघृत उंडेलता हुआ जहां जहां भी जारहा है, सर्वजन सर्वत्र उसके प्रति हार्दिक शुभ कामनायें व्यक्त करते हुए उसका स्वागत कर रहे हैं—(यज्ञ-पते)! (ते हृदयं समुद्रे अप्सु अन्तः) तेरा हृदय समुद्र में जलों के भीतर [प्रविष्ट रहे] और (ओषधीः उत आपः) ओषधियां तथा जल (त्वा सं-विशन्तु) तुझे संवेशें, तुझमें सम्यक्तया प्रवेश करें, (यत्) जो, जिससे, ताकि, तुझपर (स्वाहा) न्योछावर होते हुए, हम (त्वा) तुझे (यज्ञस्य) विष्णु-यज्ञ की (सु-उक्त-उक्तौ) सु-उक्त-उक्ति में तथा (नमःवाके) नमःवचन में (विधेम) विधारण-प्रस्थापन करें।

प्रयति यज्ञ के सम्पादक अथवा विष्णु-योग के साधक को यहां यज्ञपति शब्द से सम्बोधन करते हुए उससे तीन बातें कही गयी हैं—

१) तेरा हृदय समुद्र में जलों के भीतर प्रविष्ट रहे।
२) ओषधियां और जल तुझमें प्रवेश करते रहें।
३) हम स्वाहापूर्वक तुझे विष्णु-यज्ञ की सु-उक्त-उक्ति में तथा नमःवचन में प्रस्थापन करें।

समुद्र में जलों के ऊपर तैरने से क्षार और मछलियां हाथ पड़ती हैं। किन्तु समुद्र में जलों के भीतर गहराई में प्रवेश करने पर अमूल्य मुक्ता प्राप्त होते हैं। हृदय में आत्मा, चित्त और मन का अधिष्ठान है। आत्मचेतना का ही नाम चित्त है और आत्मा की सं-कल्प-कृति का ही नाम मन है। हृदयस्थ आत्मा जब अपनी सम्पूर्ण चेतना तथा अपने सम्पूर्ण संकल्प के साथ चिन्तन-महासागर में अथाह विचार-वारियों के भीतर प्रविष्ट रहता है, तब उसे वह आत्म-समाहिति प्राप्त होती है जिसके द्वारा समुद्र-मन्थन करके वह अपने हृदय-कलश में भरपूर अमृत भरता है और विश्व को अमृत का पान कराता है।

ओषधियों का गुण है दोषों या रोगों का निराकरण। जलों का गुण है शीतलीकरण, पूतीकरण और सिंचन। "ओषधियां और जल तुझमें प्रवेश करते रहें"—इसका आशय है "तुझमें ओषधियों और जलों के गुण प्रवेश करते रहें और तू मानव-प्रजा के जीवन-दोषों को दूर करके उन्हें शीतलता [शान्ति] और पवित्रता से सींचता रहे।"

विष्णु-योग अथवा प्रयति यज्ञ का उद्देश्य मानव प्रजा में अमृत का संचार करके उन्हें निर्दोष बनाना और उनमें शान्ति तथा पवित्रता की प्रस्थापना करना ही तो है। साधक वही कर रहा है और जनता उसपर स्व सर्वस्व न्योछावर करती हुई कह रही है, "हम तुझे यज्ञ की सु-उक्त-उक्ति में, सुप्रशस्त प्रशस्ति में तथा नमःवाक में [नमःवचनों में] प्रस्थापन करते रहें। हम तेरे प्रति सनमस्कार वचन बोलते रहें। तू विष्णु-यज्ञ की प्रसाधना करता रहे और हम तुझपर स्व सर्वस्व न्योछावर करते हुए तेरा प्रशस्ति-गान करते रहें"। जन जन का गहन प्यार अन्तर्निहित है मानव प्रजा की इस सु-उक्त उक्ति में, इस सु-उक्त प्रशस्ति में।

साक्षात् ओषधिरूप और जलस्वरूप बना हुआ साधक जन जन में निर्दोषता, शान्ति और पवित्रता का संचार करता जारहा है। वह जहां से भी विदा होता है, समग्र जनता आत्मकामनामय आशीर्वचन के साथ साधक से कह उठती है—

रहे सदा प्रविष्ट
हृदय तेरा समुद्र में
जलों के भीतर;
तुझमें करें प्रवेश
सदा ओषधियां और जल;
ताकि स्वाहा सहित
रखें हम तुझे स्थापित
विष्णु-यज्ञ की सुप्रशस्ति में ॥

सूक्ति—समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः।
रहे समुद्र में हृदय तेरा जलों के भीतर ॥
सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः।
तुझमें करें प्रवेश सतत ओषधियां और जल ॥

देवीराप एष वो गर्भस्तं सुप्रीतं सुभृतं बिभृत।
देव सोमैष ते लोकस्तस्मिञ्छं च वक्ष्व परि च वक्ष्व ॥ (य ८/२६)

देवीः आपः एषः वः गर्भः तं सु-प्रीतं सु-भृतं बिभृत।
देव सोम एषः ते लोकः तस्मिन् शं च वक्ष्व परि च वक्ष्व ॥

वेदमाता अब साधक का अभिनन्दन करनेवाली प्रजा को सम्बोधन करती हुई कहती है—(देवीः आपः) दिव्य प्रजाओ! (एषः) यह [साधक] (वः गर्भः) तुम्हारा गर्भ है, (तं सु-प्रीतं सु-भृतं) उस सुप्रीत सुधारित को (बिभृत) धारण करो।

गर्भाशय के भीतर जो धारण किया जाता है उसे गर्भ कहते हैं। गर्भिणी अपने गर्भ को बड़ी प्रीति और सावधानी के साथ सुधारित, सुष्ठु तया धारण करती हुई, सहारती हुई उसका पोषण और रक्षण करती है। तब जाकर सन्तानरूपी रत्न की उपलब्धि होती है।

विष्णु-योग का साधक मानव-समाज-रूपी दिव्य माता का वह गर्भ है, वह हिरण्य-गर्भ है, वह सुनहरी गर्भ है जिसकी सम्पूर्ण प्रीति और सावधानी के साथ रक्षा की जानी चाहिए। स्थान स्थान की दिव्य मानव-प्रजाओं का यह पुनीत कर्तव्य है कि वे साधक के स्वास्थ्य, जीवन, समय और मिशन की प्राणपण से प्रेम और सावधानी के साथ पुष्टि तथा प्ररक्षण करते रहें।

प्रायः मानव-प्रजाएं आध्यात्मिक लोकसाधकों के जीवन का यथावत् मूल्यांकन न करने का जघन्य पाप करती रहती हैं। राजाओं, महाराजाओं, सम्राटों, नवाबों, प्रधानमन्त्रियों, राष्ट्रपतियों के जीवनों से कहीं अधिक मूल्य आध्यात्मिक साधकों के जीवनों का है। इस तथ्य को प्रजाओं के हृदयों में अंकित कराने की प्रत्यक्ष आवश्यकता है।

और अब स्वयं साधक को सम्बोधन करती हुई वेदमाता कह रही है—(देव सोम) दिव्य सोम! दिव्य चन्द्र! (एषः) यह [मानव-समाज] (ते लोकः) तेरा लोक है, (तस्मिन्) उसमें (शं वक्ष्व) शम् वहन कर (च च) और (परि-वक्ष्व) सब ओर वहन कर।

दिव्य चन्द्र जिस प्रकार अपनी दिव्य चन्द्रिका से अपने लोक को आलोकित करता है, उसी प्रकार वैष्णव यज्ञ का साधक भी वह दिव्य चन्द्र है जिसे प्रत्येक मानवसमाजरूपी लोक में सब ओर सर्वत्र शम् [सुख, शान्ति, आनन्द और स्वस्ति] का संचार करना है।

प्रजा दिव्य चन्द्र साधक का प्राणपण से पोषण रक्षण करे और साधक प्रजा में शम् का संहवन करे—विश्व के कल्याण और सौभाग्य का यही वैष्णव पथ है।

दिव्य प्रजाओ,
गर्भ तुम्हारा है यह,
धारो उस सुप्रीत सुव्रत को।
देव सोम,
यह लोक है तेरा,
उसमें कर संवहन परिवहन
शम् [सुख शान्ति स्वस्ति आनन्द]॥

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः। अव देवैर्देवकृतमेनो ऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि। देवानां समिदसि॥
[य ३/४८] (य ८/२७)

अव-भृथ नि-चुम्पुण निचेरुः असि नि-चुम्पुणः। अव देवैः देव-कृतम् एनः अयासिषम् अव मर्त्यैः मर्त्यकृतम् पुरु-राव्णः देव रिषः पाहि। देवानाम् सम्-इत् असि॥

अवभृथ=अव-भृथ, अव+हृथ, नीचे से ऊपर खींचकर लेजानेवाला, नीचे से ऊंचा चढ़ानेवाला।

निचुम्पुण=नि+चुम्पुण, नितरां मन्द गति से चलनेवाला, मन्द किन्तु स्थिर गति से निरन्तर चलते रहनेवाला। निचुम्पुण नाम उस दुस्तर पथ का है जिसपर मन्द और स्थिर गति से चलकर यात्रा पूरी की जाती है।

निचेरु=नि+चेरु, नितरां चयन करनेवाला, निरन्तर संचय करनेवाला।

एक दिन था जब विष्णु-योग का साधक पृथिवी पर से आकाश की ओर निहारता था कि इतने ऊंचे विष्णु के परम धाम तक वह कैसे चढ़ पाएगा। उसने आरोहण प्रारम्भ किया। मन्द और स्थिर गति से निरन्तर आरोहण करता हुआ वह आज विष्णु-धाम पर चढ़ गया है। कितनी नीचाई से वह कितनी ऊंचाई पर चढ़ गया है।

आरोहण सदा मन्द और स्थिर गति से ही होता है। मनुष्य जब पर्वत के उच्च शिखर पर

चढ़ता है तो कितना श्रम होता है और कितनी मन्द गति से ऊपर चढ़ा जाता है। थोड़ी थोड़ी ऊंचाई पर चढ़कर वह सुस्ताता है और स्थिरता के साथ पुनः पुनः ऊपर की ओर चढ़ता चला जाता है।

विष्णु के परमोदात्त धाम पर आरोहण करते हुए साधक ने एक एक करके दिव्यताओं का सतत चयन और मानवीयताओं का सन्तत संचयन किया है।

साधक यों ही देव सोम नहीं बन गया है, अनायास ही दिव्य चन्द्र बनकर मानव-लोक को आलोकित नहीं करने लगा है। उसके लिए उसे सतत मन्द और सुस्थिर साधना करनी पड़ी है। अपनी साध की संसिद्धि पर वह साधना के सुपथ को सम्बोधन करता हुआ कह रहा है—

१) (अव-भृथ नि-चुम्पुण) नीचे से ऊपर लेजानेवाले, नितरां मन्द स्थिर गति से चलानेवाले, साधना-सुपथ! तू (नि-चेरुः असि) निचेरु है, तुझपर चलते हुए साधना का निरन्तर चयन किया जाता है, दिव्यताओं व मानवीयताओं का संचय किया जाता है। तू (नि-चुम्पुणः असि) निचुम्पुण है, तू वह दुस्तर सुपथ है जिसपर निरन्तर मन्द और स्थिर गति से चला जाता है।

२) साधना-सुपथ! तुझपर चलते हुए मैंने (देवैः) देवों-दिव्यताओं से युक्त होकर (देव-कृतं-एनः अव-अयासिषं) देवकृत पाप त्यागा है, (मर्त्यैः) मर्त्यों—मानवीयताओं से युक्त होकर (मर्त्य-कृतं एनः अव-अयासिषं) मनुष्यकृत पाप त्यागा है।

दिव्यताओं की प्राप्ति में बाधक कृत्यसमूह का नाम देवकृत पाप है। मानवीयताओं की प्राप्ति में बाधक कृत्यसमूह का नाम मर्त्यकृत पाप है। साधना-सुपथ पर चलते हुए ज्यों ज्यों दिव्यताओं की प्राप्ति होती जाती है त्यों त्यों देवकृत पाप का क्षय होता चला जाता है। अन्तिम छोर पर पहुंचने पर साधक अखिल दिव्यताओं से युक्त हो जाता है और देवकृत पाप से सर्वथा मुक्त हो जाता है। एवमेव साधना-सुपथ पर चलते हुए ज्यों ज्यों मानवीयताओं की प्राप्ति होती जाती है त्यों त्यों मर्त्यकृत पाप का क्षय होता चला जाता है और अन्तिम छोर पर पहुंचने पर साधक सकल मानवीयताओं से युक्त होकर मर्त्यकृत पाप से सर्वथा मुक्त होजाता है। दिव्यताओं और मानवीयताओं का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है। मानवीयता में ही दिव्यता निवास करती है।

इसी तथ्य का प्रकाशन करते हुए योगसाधक ने कहा है, "मन्द सुस्थिर गति से साधना-सुपथ पर प्रगमन करते हुए मैंने दिव्यताओं तथा मानवीयताओं का सतत संचय किया है और देवकृत तथा मर्त्यकृत पाप से मैंने छुटकारा पाया है"।

मन्त्रान्त में साधक विष्णु से प्रार्थना करता है—(देव) दातः! सिद्धि-दातः! दिव्यताओं के प्रदातः! तू (देवानां समित् असि) दिव्यताओं का संदीपक है। अपनी संदीप्ति से तू सदा सर्वदा मेरी (पुरु-राव्णः रिषः पाहि) बहुदानी रिष् से रक्षा कर/करता रह। रिष् नाम हिंसक और शत्रु का है।

विष्णु-योग श्रेय-पथ है, श्रेय का मार्ग है, देव-पथ है, दिव्यताओं और मानवीयताओं की प्राप्ति का मार्ग है। ललित भोग विलास और मोहक वासनाओं से जटित मार्ग प्रेय-पथ है, प्रेय का मार्ग है। श्रेय-पथ दुस्तर किन्तु कल्याणकारी है। प्रेय-पथ सुतर किन्तु हिंसक-हिंसाकारी, विनाशकारी है। साधक प्रेय-पथ से हटकर श्रेयपथ पर आरूढ़ है। वह दिव्यताओं तथा मानवीयताओं से सुभूषित होकर विचर रहा है और विष्णु देव से प्रार्थना करता रहता है कि बहुदानी विनाशकारी प्रेयपथ से उसे सदैव बचाता रहे।

अवभृथ और निचुम्पुण!
तू है नि-चेरु और निचुम्पुण।
दिव्यताओं से त्यागा मैंने

सकल देवकृत पाप।
मानवीयताओं से त्यागा
मैंने सकल मर्त्यकृत पाप।
देव ! सदा रक्षा कर मेरी
बहुदानी शत्रु से,
तू है दिव्यताओं का दीपक।

सूक्ति—पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि।
देव ! बहुदानी शत्रु से बचा॥
देवानां समिदसि।
तू दिव्यताओं का दीपक है॥

एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह। यथायं वायुरेजति यथा
समुद्र एजति। एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह॥
(य ८/२८)

एजतु दश-मास्यः गर्भः जरायुणा सह। यथा अयं वायुः एजति यथा
समुद्रः एजति। एव अयं दश-मास्यः अस्रत् जरायुणा सह॥

१) (एजतु दश-मास्यः गर्भः) गति करे दश-मास्य गर्भ (जरायुणा सह) जरायु के साथ।
२) (यथा अयं वायुः एजति) जैसे यह वायु चलता है।
३) (यथा समुद्रः एजति) जैसे समुद्र तरंगित होता है।
४) (एव) वैसे ही (अयं दश-मास्यः) यह दश-मास्य [गर्भ] (जरायुणा सह) जरायु के साथ (अस्रत्) सरका है, सरक कर बाहर आया है।

यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी।
अङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमं स्वाहा॥ (य ८/२९)

यस्यै ते यज्ञियः गर्भः यस्यै योनिः हिरण्ययी।
अंगानि अह्रुता यस्य तं मात्रा सं-अजीगमं स्वाहा॥

१) (यस्यै ते) जिस तेरे लिए, जिस तुझ योग-साधिका भार्या के लिए (गर्भः यज्ञियः) गर्भ यज्ञीय है।
२) (यस्यै) जिस तेरे लिये, जिस तुझ योगसाधिका भार्या के लिए (योनिः हिरण्ययी) योनि कुन्दनमयी [विशुद्ध] है।
३) (यस्य अंगानि अह्रुता) जिसके अंग अकुटिल हैं, [मैंने, मुझ योगसाधक पति ने] (तं) उस [शिशु] को (स्वाहा) सु-आहुति द्वारा (मात्रा) माता [गर्भिणी] द्वारा (सं-अजीगमं) सम्यक् प्राप्त किया है।

योग-साधक को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई है और वेदमाता ने इन दो मन्त्रों को उसके मुख से कहलवाकर यहां सन्तति विज्ञान के एक गूढ़ रहस्य का उद्घाटन किया है।

पूर्ण गर्भ की अवधि यहां दश महीने की बतायी गयी है। दश मास का यह उल्लेख चान्द्र मास का है। प्रत्येक चान्द्र मास अट्ठाईस दिनों का होता है। दश चान्द्र मास २८० दिन अथवा सौर ९ महीने और १० दिन के बराबर होते हैं। इस अवधि की समाप्ति पर जो प्रसव हो, गर्भ में से गर्भस्थ शिशु वायु के वेग और समुद्र की तरंग के समान तरंगित होकर बिना किसी रुकावट के गर्भ से बाहर आए।

नारी की योनि और उसमें निहित जो गर्भाशय है वह अश्लील कामाचार की वस्तु नहीं है, योग-साधिका भार्या के लिये एक यज्ञीय और विशुद्ध वस्तु है जिससे उसे यज्ञीय पुत्र और यज्ञीया पुत्री का प्रसवन करना है।

जब पति और पत्नी दोनों ही योगसंसिद्ध होकर सु-आहुति द्वारा सन्तान उत्पन्न करते हैं, तब ही



ऐसे पुत्र पुत्री की उपलब्धि होती है जिसके सब अंग अकुटिल होते हैं।

माता पिता योग-युक्त होकर अथवा योगी बनकर सन्तान उत्पन्न करते हैं तो वह सन्तान योग के सुसंस्कारों से सुसंस्कृत होती है और अपने किसी भी अंग से कुटिल चेष्टा नहीं करती है। माता पिता भोगयुक्त होकर अथवा भोगी बनकर सन्तान उत्पन्न करते हैं तो वह सन्तान भोग के कुसंस्कारों से कुसंस्कृत होती है और अपने अंग अंग से कुटिल चेष्टा करती है।

"स्वाहुति-सुआहुति द्वारा" में एक परम गुह्य रहस्य गर्भित है। माता जब गर्भावस्था में योगयुक्त रहती हुई अपने भीतर सु-आहुति देती है, तो ही अकुटिल अंगोंवाली सन्तान का जन्म होता है। सु-आहुति का दूसरा नाम है भद्र-आहुति। सु-विचारों [भद्र-चिन्तनों], सु-दर्शन [भद्र-दर्शन], सु-श्रवण [भद्र-श्रवण], सु-भोजन [भद्र-भक्षण, भद्र-पेय], सु-संकल्प [भद्र-भावना]—इन पञ्च आहुतियों का नाम सु-आहुति है। जो जननी सदैव और विशेषतः गर्भावस्था में इन पञ्च भद्र आहुतियों को अपने जीवन-यज्ञ में होमती रहती है, वह ही अह्रुताङ्ग सन्तान की माता बनती है।

संसिद्ध योगी और संसिद्ध योगिनी बनने पर ही कुमारों और कुमारियों के विवाह किये जायें—यह वैदिक विधान है। योगवृत्ति से ही गर्भाधान किये जायें—यह वैदिक साधना है। योगमय सु-आहुति से ही गर्भ का पोषण हो—यह वैदिक मर्यादा है। योग के आश्रय से उत्पन्न हुई सन्तान योगी और भोग के आश्रय से उत्पन्न हुई सन्तान भोगी—सन्तति विज्ञान का यह एक संदिग्ध सूत्र है।

जिस राष्ट्र में वंश-परम्परा से योगयुक्त दम्पति योग-संस्कारों से सुसंस्कृत सन्तान का संसृजन करते हैं उसी राष्ट्र के सकल नागरिक देवकोटि के होते हैं और वही राष्ट्र देवराष्ट्र, देवों का राष्ट्र, दिव्यताओं से समलंकृत राष्ट्र बनता है।

पूर्व मन्त्र में योगसाधक ने कहा था, योगसाधिका ने कहा था—

दिव्यताओं से त्यागा मैंने
सकल देवकृत पाप।
मानवीयताओं से त्यागा मैंने
सकल मर्त्यकृत पाप॥

योग के आश्रय से योगसाधक ने, अपि च योग-साधिका ने, देवकृत और मर्त्यकृत पापों से मुक्त होकर, सर्वथा निष्पाप बनकर निष्पाप सन्तान-रत्न की प्राप्ति की है। अतः आत्मविश्वास के साथ वह कह रहा है—

गति करे दशमास्य गर्भ
जरायु सहित।
जैसे है यह वायु चलता,
यथा समुद्र तरंगित होता,
वैसे ही दशमास्य गर्भ यह
सहित जरायु बाहर आया ॥२८
गर्भ यज्ञीय जिस तेरे लिए,
योनि हिरण्ययी जिस तेरे लिए,
सु-आहुति से माता द्वारा
मैंने पाया उसे,
अङ्ग अह्रुत हैं जिसके॥

पुरुदस्मो विषुरूप इन्दुरन्तर्महिमानमानञ्ज धीरः।
एकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं भुवनानु प्रथन्तां स्वाहा॥

(य ८/३०)

पुरु-दस्मः विषु-रूपः इन्दुः अन्तःमहिमानं आनञ्ज धीरः।
एक-पदीं द्वि-पदीं त्रि-पदीं चतुःपदीं अष्टा-पदीं भुवना अनु-प्रथन्तां स्वाहा॥

शिशु [पुत्र या पुत्री] के रूप में (पुरु-दस्मः विषुरूपः धीरः इन्दुः) पुरुदस्म विसुरूप इन्दु ने (एक-पदीं द्वि-पदीं त्रि-पदीं चतुःपदीं अष्टा-पदीं अन्तःमहिमानम्) एकपदी, दोपदी, तीनपदी, चारपदी, आठपदी अन्तःमहिमा को (आनञ्ज) प्रकट किया है।

योगसाधक के लिये यहां इन्दु शब्द का प्रयोग हुआ है जिसके तीन प्रयुक्त विशेषण हैं पुरुदस्म, विषुरूप और धीर। इन्दु शब्द का प्रयोग यहां चन्द्रमा के अर्थ में हुआ है। पुरु का अर्थ है बहु, सर्व। दस्म का अर्थ है दर्शनीय। पुरुदस्म का अर्थ है बहु-दर्शनीय, सर्व-दर्शनीय। विषुरूप=वि+सु+रूप। जिधर से देखिये, जिस दृष्टि से देखिये, सर्वतः सुरूपवान् जो हो उसे विषुरूप कहते हैं। चन्द्रमा पुरुदस्म भी होता है और वि-सु-रूप भी।

योगसाधक पति भी, योगसाधिका भार्या भी, पुरु-दस्म वि-सुरूप धीर इन्दु है। इन्दु दम्पती ने अपने शिशु के रूप में एक एकपदी, द्विपदी, त्रिपदी, चारपदो, आठपदो अन्तःमहिमा को प्रकट किया है।

ओम् अथवा ब्रह्म अन्तः की एकपदी महिमा है। इसी एकपदी महिमा के द्योतन के लिये जन्मते ही शिशु को जिह्वा पर ओम् लिखा जाता है।

अन्तः की दूसरी महिमा है वेद जो ब्रह्मवाक् अथवा परमेश की दिव्य वाणी है। अन्तःकरण में एकपदी अन्तःमहिमा ओम् के प्रतिष्ठित होजाने पर ही वेदमन्त्रों के यथार्थ आशय तथा मर्म का उद्घाटन होता है। इसीलिये जन्मते ही शिशु की जिह्वा पर ओम् लिखकर उसके कान में "वेदोऽसि-तू वेद है" कहा जाता है। ओम्+वेद—यह अन्तः की द्विपदी महिमा है।

अन्तः की तीसरी महिमा है आत्मा जिसकी उन्नति और मुक्ति के लिए ओम् तथा वेद का अवलम्ब किया जाता है। शरीर, परिवार, समाज, राष्ट्र, संसार, वैभव—सब कुछ आत्मोन्नति तथा आत्ममुक्ति की साधना के लिए है। ओम्+वेद+आत्मा—यह अन्तः की त्रिपदी महिमा है।

अन्तः की चौथी महिमा है चित्त जिसकी वृत्तियों के निरोध से जीवन की योगपद्धति का सम्पादन होता है। ओम्+वेद+आत्मा+चित्त—यह अन्तः की चतुष्पदी महिमा है।

अन्तः की पांचवीं महिमा है मन जिसकी शिवता से जीवन के सत्त्व को संशुद्धि तथा कर्म की सुपावनता का निष्पादन होता है। अन्तः की छटी महिमा है मस्तिष्क [Mind] और सातवीं महिमा है उपमस्तिष्क [Sub-conscious mind] जिनके परिष्कार से जीवन-साधना का सर्वाङ्गीण संविकास होता है। अन्तः की आठवीं महिमा है संयम जिसके आश्रय से लोक परलोक की साध संसिद्ध होती है। उपर्युक्त चतुष्पदी महिमा में इन चार महिमाओं के योग से जीवन अष्टापदी महिमा से महिमामय बनता है।

जब योगयुक्त पुरुदस्म विषुरूप धीर इन्दु दम्पती स्वयं अन्तः की आठों महिमाओं से सुनिष्पन्न होकर अह्रुताङ्ग सन्तान उत्पन्न करता है तो समुत्पन्न शिशु के रूप में वह आठों महिमाओं का सुविकासोन्मुख प्रकाश प्रकट करता है जिससे पृथिवी-भर के मानव-भुवन उन महिमाओं से आत्मविस्तृति अथवा जीवन-विस्तृति को प्राप्त करते हैं। इसी आशय को प्रकट करते हुए वेदमाता ने जन्म-बधाई तथा आशीर्वाद के रूप में जन जन के मुख से कहलवाया है—संस्काररूप में प्राप्त शिशु की आठ महिमायें (स्वाहा) सु-आहुति द्वारा (भुवना) भुवनों को, मानव-भुवनों को (अनु-प्रथन्ताम्) विस्तारती रहें।

स्वाहा [सु-आहुति] शब्द का प्रयोग यहां बड़ा महत्त्वपूर्ण है। संस्काररूप में प्राप्त शिशु की अन्तःमहिमाओं का सतत निर्बाध संविकास तब होगा जब शिशु में निरन्तर आहुति सु-आहुति दी जाती रहेगी। नेत्र, श्रोत्र, और मुख द्वारा शिशु

में जो आहुति जाए वह सु-आहुति हो। नेत्र से भद्र दर्शन नेत्र-सुआहुति है, श्रोत्र से भद्र श्रवण श्रोत्र-सुआहुति है, मुख से सोमसेवन [भद्र भक्षण] मुख-सुआहुति है।

सु-आहुति से सुविकसित होती हुई आठों महिमाएं जब जीवन में पूर्ण विकास को प्राप्त होजाती हैं तब ही अखिल मानव जाति का सर्वाङ्गीण विकास विस्तार किया जाना सम्भव होता है। सन्तति विज्ञान के इस वैदिक सन्देश में मानवता का सुपेय निहित है।

पुरुदस्म और विषुरूप धीर इन्दु ने
प्रकट किया है
एकपदी द्विपदी त्रिपदी
चतुष्पदी अष्टापदी अन्तःमहिमा को।
वे विस्तारें सतत निरन्तर
स्वाहुति द्वारा
सब भुवनों को॥

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः।
स सुगोपातमो जनः॥ (य ८/३१)
[ऋ १. ८६. १, अ २०. १. २]
मरुतः यस्य हि क्षये पाथ दिवः वि-महसः।
सः सु-गो-पा-तमः जनः॥

मरुतः नाम उन धीर वीर सिंचनशील जलवाहक पवनों का है जो सागर से बादलों को वहन करके दूर दूर लेजाकर मेंह बरसाते हैं और भूमि को हरा भरा करते हैं।

यहां मरुतः शब्द का प्रयोग पूर्व मन्त्र में उल्लिखित अन्तः की महिमा के आठ पादों के लिये हुआ है जो मरुतवत् सिञ्चक तथा फलप्रद हैं।

पुरुदस्म विषुरूप धीर इन्दु अपनी अनुभूति के आधार पर अष्टापदी महिमाओं को साक्षात् सम्बोधन करता हुआ कह रहा है—(वि-महसः मरुतः) वि-महान् मरुतो ! तुम (यस्य हि) जिसके भी (क्षये) गृह में, जीवन-गेह में (दिवः) दिव्यता की (पाथ) रक्षा करते हो, (सः जनः) वह जन (सु-गो-पा-तमः) सुगोपातम होता है।

सु=सुष्ठुतया, भली प्रकार। गो=पृथिवी। पा=रक्षा करनेवाला। तम=अतिशय। जो पृथिवी की और पृथिवी पर निवास करनेवाले मानव-भुवनों की भली प्रकार अतिशयता के साथ रक्षा करता है उसे सुगोपातम कहते हैं।

प्रत्यक्षतः अन्तः की महिमा के आठ पाद ही हैं जो जीवन-गेह में दिव्यता की स्थापना तथा रक्षा करते हैं। और दिव्यता से द्योतित जीवनगेह-सम्पन्न जन ही वह सार्वभौम जन बनता है जो पृथिवी की अतिशयता के साथ सुष्ठुतया रक्षा करता है, जो पृथिवी के मानव-भुवनों में दिव्य ज्योति जगाकर पृथिवी पर व्यापी अखिल मानवता की सुसेवा और सुरक्षा करता है।

वि-महसः मरुतो,
तुम जिसके गृह में
दिव्यता की रक्षा करते,
वह जन बनता सुगोपातम॥

मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम्।
पिपृतां नो भरीमभिः॥ (य ८/३२)
[ऋ १. २२. १३, य १३/३२]
मही द्यौः पृथिवी च नः इमं यज्ञं मिमिक्षताम्।
पिपृतां नः भरीमभिः॥

मही द्यौ प्रतीक है दिव्यताओं से युक्त द्युति का और मही पृथिवी प्रतीक है विस्तृति, भरण पोषण तथा सहनशीलता का। द्यौष्पिता पृथिवी च माता। पिता हो मही द्यौ और माता हो मही पृथिवी। पिता हो द्यौ के समान दिव्यताओं का पुञ्ज और माता हो पृथिवी के समान विस्तार-भरण-सहन-शीला।

द्यौलोक को देखिये, उसमें कितने दिव्य लोक जगमगा रहे हैं। पृथिवी को देखिये, वह कैसा विस्तार भरण सहन [धारण] कर रही है। पृथिवी में एक बीज बोया जाता है और पृथिवी उसे अपने में उगाती है, उसका भरण [पोषण] करती है, उसे सहन [धारण] करती है और एक बीज के असंख्य दाने देकर बीज का विस्तार करती है।

अखिल मानव-भुवनों में अन्तः की आठ महिमाओं की प्रस्थापना करके सारी मानव प्रजा को विष्णु-योग का साधक अथवा प्रयति यज्ञ का याजक बनाने के लिए चाहियें द्यौरूप पिता और पृथिवीरूपा माता। निर्मित से पूर्व निर्माताओं की आवश्यकता होती है। निर्माता जितने दक्ष होंगे, निर्मित भी उतने ही पूर्ण सुपूर्ण सम्पूर्ण होंगे। कलाकार जितने कुशल होंगे, उनकी कलाकृतियां उतनी ही कलान्वित होंगी।

इसी आशय को प्रकट करने के लिए यहां वेदमाता ने मानव प्रजा के मुख से कहलवाया है—(मही द्यौः च पृथिवी) मही द्यौ और पृथिवी, दिव्य द्युतियों से द्योतित पिता और दिव्य विस्तृतियों से विस्तृत सुभरा सुधारिका माता (नः) हमारे (इमं) इस (यज्ञं) यज्ञ को, मानव-भुवनों में अन्तः की आठ महिमाओं की प्रस्थापना के सुयाग को (मिमिक्षतां) सींचें, (भरीमभिः) भरणों, आपूरणों, आसिंचनों द्वारा (नः) हमें, हम सकल मानव-सन्ततियों को (पिपृतां) प्रपूरित करें।

योगयुक्त आदर्श पुत्र पुत्री चाहियें तो सन्तान से पहले आदर्श माता पिता चाहियें—वेद का यह सन्देश है जो इस मन्त्र में निहित है और जिसे विश्व के जन जन तक, प्रत्येक नर नारी तक पहुंचाना चाहिये।

मही द्यौ और मही पृथिवी
सींचें हमारे इस सुयाग को,
पूरें हमें सकल भरणों से॥

आ तिष्ठ वृत्रहन् रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी।
अर्वाचीनं सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन एष ते
योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने॥

[ऋ १.८४.३, सा १०२९] (य ८/३३)

आ-तिष्ठ वृत्र-हन् रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी।
अर्वाचीनं सु ते मनः ग्रावा कृणोतु वग्नुना।
उपयाम-गृहीतः असि इन्द्राय त्वा षोडशिने एषः ते
योनिः इन्द्राय त्वा षोडशिने॥

इस मन्त्र से वैदिक लोरियों का प्रारम्भ किया जाता है। लोरियां शिशु को सुलाने के लिये अथवा शयनार्थ पलक झपकते हुए शिशु की निद्रा को प्रगाढ़ करने के लिये गायी जाती हैं। सुसन्देशों का समंकन और सुसंस्कारों का सुसंस्करण जितनी गहनता और सम्यक्ता के साथ निद्रावस्था में

किया जा सकता है उतना जागृति में नहीं। निद्रावस्था में आबालवृद्ध सभी स्वभावतः अन्तर्मुख होते हैं और इसी कारण निद्रा में चित्त की सम्पूर्ण चित्तियां अथवा वृत्तियां अनायास ही अन्तःकरण में निरुद्ध अथवा समाहित होती हैं। जागृति में सभी स्वभावतः बाह्यमुख होते हैं और चित्त की सम्पूर्ण चित्तियां या वृत्तियां बिखरी रहती हैं।

मनोविज्ञान का यह सुनिश्चित मत है कि सुबोध सन्देशों का संचरण मानव में जितनी सरलता, गहनता और स्थिरता के साथ निद्रावस्था में होता है उतना अन्यावस्था में नहीं, बशर्ते कि सन्देशों के संचरण का आरम्भ निद्रा के आरम्भ के साथ किया जाये। निद्रा की प्रारम्भिक झपकियों के आने पर या आने से पूर्व मानव जो कुछ सुनता और विचारता हुआ निद्रा में प्रवेश करता है, सम्पूर्ण निद्राकाल में तज्जन्य प्रभाव और संस्कार बड़ी तीव्रता, गहनता और अमिटता के साथ उसमें निरन्तर समंकित होते रहते हैं। निद्रान्त में जब वह जागृति में आता है तो उसी प्रभाव और संस्कार में बाह्यमुख होता है।

और तथ्य तो यह है कि जीवन का प्रारम्भ ही निद्रा से होता है। गर्भस्थ बालक गर्भ में दस चान्द्र मास [२८० दिन] अथवा सौर नौ महीने दस दिन प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न रहता है। गर्भ-काल में माता की जीवन-चर्या से गर्भस्थ शिशु में जैसे जिन संस्कारों का समंकन होता है वे अमिट होते हैं और जन्मने पर बालक सर्वतः उन्हीं संस्कारों के आधार पर यावज्जीवन आरोहण या अवरोहण करता रहता है। गर्भस्थ संस्कार इतने अमिट होते हैं कि बड़ा होने पर कोई बिरला ही सविवेक उत्कट साधना करने पर अपनी निद्रा को योग-निद्रा बनाकर उन्हें दबा या मिटा सकता है।

जन्मने पर भी लोरियों द्वारा शिशु की निद्रा के सुयोग से उसमें जिन संस्कारों का समंकन किया जाता है वे भी गर्भस्थ संस्कारों के समान ही प्रबल और स्थायी होते हैं। उसी प्रकार मनुष्य यावज्जीवन अपनी निद्रा के द्वारा अपने जीवन में सुसंस्कारों या कुसंस्कारों का अनायास ही समंकन करता रहता है। यदि कोई मानव सायास विधि-पूर्वक अपनी निद्रा को योग-निद्रा बनाकर उसका सुप्रयोग करे तो वह यथाकामना अपने जीवन का निर्माण और अपनी काया का कल्प कर सकता है। निद्रा एक ऐसा साधन है जिसे भोगनिद्रा बनाने से मनुष्य अपना सर्वनाश कर लेता है और जिसे योग-निद्रा बनाकर वह कल्याण का पथ प्रशस्त कर सकता है।

संस्कार के समंकन का स्थान मानव का चित्त है, मन या बुद्धि नहीं। चित्त है आत्मा की निज चेतना का वह चिन्मय कोष जिसकी चित्तियां या वृत्तियां मन-बुद्धि-सहित सम्पूर्ण शरीर को चेताती और प्रेरती हैं। चित्त पर जैसे संस्कार समंकित होते हैं, मानव की वृत्तियां मन से उसी प्रकार के संकल्प कराती हैं, मस्तिष्क से उसी प्रकार के चिन्तन कराती हैं और शरीरेन्द्रियों से उसी प्रकार की चेष्टायें कराती हैं। चित्त आत्मा का नेदिष्ठ [निकटतम] है। प्रबुद्ध आत्मा का चित्त सुसंस्कारों से सुसंस्कृत होता रहता है। अप्रबुद्ध आत्मा का चित्त होता रहता है कुसंस्कारों से कुसंस्कृत।

इस मन्त्रस्थ प्रथम लोरी से योगसाधिका माता अपने शिशु के आत्मा को उद्बुद्ध और चित्त को प्रचेतित करती हुई गारही है—

१) (वृत्रहन्) वृत्रों को हनन करनेवाले! (ते) तेरे, अपने (हरी) दोनों हरियों को (ब्रह्मणा युक्ता) ब्रह्म से युक्त [रखता हुआ] (रथं आ-तिष्ठ) रथ को / में विराज।

लोरी का यह भाग कितना उद्बोधक है! वृत्रहन्=वृत्र-हन्, वृत्र का हनन करनेवाला। वृत्र का अर्थ है घेरा डालनेवाला, आच्छादन करनेवाला,

निरोध करनेवाला। अन्धकार वृत्र है, क्योंकि वह आच्छादन करता है। बादल वृत्र है, क्योंकि वह प्रकाश का निरोध [रोक] करता है। पाप वृत्र है, क्योंकि वह मानव को मलिनता से आच्छादित करता है। इसी प्रकार अज्ञान, विकार, वासना, सब वृत्र हैं।

शिशु के आत्मा को वृत्रहन् शब्द से सम्बोधित करके योगमयी माता ने उसके चित्त पर एक सुगहन सुसुन्दर सुसंस्कार का समंकन किया है। आत्मा में वृत्रों के हनन की शक्ति है। आत्मा प्रबुद्ध होजाये तो वह अपने जीवन-साम्राज्य में से अज्ञान, अन्धकार, पाप, अपराध, विकार, वासना, मलिनता, कुसंस्कार, कुकर्म आदि समस्त वृत्रों का हनन कर सकता है।

प्रबुद्ध होकर भी आत्मा वृत्रों का हनन तब ही कर सकेगा जब वह अपने जीवन-रथ के दोनों हरियों को ब्रह्म से युक्त रखेगा। हरि का अर्थ है हरण करनेवाला, खींचनेवाला। अश्व हरि है, क्योंकि वह रथ को खींचता है। सेनापति हरि है, क्योंकि वह सेना को प्रेरता है। वेदोपदेशक हरि है, क्योंकि वह धर्मचक्र का प्रेरक है। अखिल सृष्टि का प्रेरक, भक्तों के हृदयों का आकर्षक, पाप-ताप-हारी होने से परमात्मा हरि है। यहां हरि शब्द का द्विवचनात्मक प्रयोग बुद्धि और मन के लिये हुआ है। ये दो अश्व ही हैं जो जीवन-रथ का वहन करते हैं। यदि आत्मा जीवन-रथ के इन दो हरियों [अश्वों] को ब्रह्म से युक्त रखता है तो आत्मा का कल्याण-पथ प्रशस्त रहता है। यदि आत्मा अपने इन दो हरियों को माया से युक्त रखता है तो उसके पल्ले महती विनष्टि पड़ती है। कितना सुन्दर उद्‌बोधन है यह—"वृत्रों को हनन करने की क्षमता से सम्पन्न आत्मन्! अपने मन-बुद्धि-रूपी हरियों को ब्रह्म से युक्त रखता हुआ अपने जीवन-रथ में स्थित रह"। बुद्धि से ब्रह्म का सतत चिन्तन तथा स्मरण और मन से ब्रह्म का सतत मनन—यही दोनों हरियों का ब्रह्म से युक्तीकरण है।

२) (ग्रावा) मेघ, बादल (वग्नुना) वाणी से (ते मनः) तेरा मन (सु) सुष्ठु, सुन्दर तथा (अर्वाचीनं) नया (कृणोतु) करे।

वग्नु नाम वाणी का है। मेघ के प्रसंग में वग्नु से तात्पर्य गर्जन से होगा। जब सर-सर करती हुई रिमझिम रिमझिम वृष्टि होरही होती है और वृष्टि के साथ साथ बादलों का गर्जन होरहा होता है तो जहां एक ओर वनस्पति में नयापन तथा आरोहण होता है, वहां दूसरी ओर मानव-मन का सुष्ठुकरण तथा नवीनीकरण भी होता है। वनस्पति-विज्ञानवेत्ताओं से यह छिपा नहीं है कि मेघ की वृष्टि तथा गर्जन से वनस्पतियां लहलहाती हैं और तीव्र वेग से आरोहण करती हैं। उसी प्रकार वृष्टि और गर्जन से मन भी सुतरंगों से सुतरंगित और नई नई उमंगों से सुष्ठुतया उमंगित होता है।

यहां मन्त्रस्थ लोरी ही वह ग्रावा है, वह दिव्य मेघ है जिसकी दिव्य सुसंस्कार-वृष्टि की स्वरलहरी से शिशु का मन सुन्दर और नवीन होता चला जारहा है। यहां यह वेदलोरी ही वह ग्रावा है, वह दिव्य बादल है जिसके दिव्य गर्जन से शिशु का मन सु और नवीन होता चला जारहा है।

३) सुबोध बाल! सुबोध बालिके! तू (उपयाम-गृहीतः असि) पृथिवी-गृहीत है। सारी पृथिवी तेरी साधना-स्थली है, योगस्थली है, धर्मस्थली है, कर्मस्थली है। अपनी आत्मव्याप्ति से तुझे सारी वसुन्धरा को सुखधाम बनाना है।

प्यारे बच्चे! (ते एषः योनिः) तेरी यह योनि [जीवनी] (त्वा षोडशिने इन्द्राय) तुझे षोडशी इन्द्र के लिए [मिली है], (त्वा षोडशिने इन्द्राय) तुझे षोडशी आत्मा के लिए [मिली है]।

शिशु की जीवनी में विराजमान् आत्मन्! सारी पृथिवी तेरा धर्मक्षेत्र, साधनाक्षेत्र, कर्मक्षेत्र

सही, पर तेरी इस मानव-जीवनी का लक्ष्य तेरे अपने षोडशी आत्मा का विकास और विमोक्ष ही है, दुःख से अत्यन्त निवृत्त होकर शाश्वत आनन्द की प्राप्ति ही है।

निम्नलिखित षोडश [१६] कलाओं से कला-स्वरूप होने से ही यह आत्मा षोडशी कहलाता है।

१) अणुत्व,	२) अमरत्व,
३) अजरत्व	४) ज्योति
५) ज्ञान	६) चेतना
७) निर्विकारिता	८) गति
९) इच्छा	१०) प्रयत्न
११) शुद्धता	१२) बोध
१३) अहिंसा	१४) सत्य
१५) स्वयम्भुत्व	१६) दिव्य सत्त्व

आत्मा स्वरूप से अणु, अमर, अजर, ज्योति-स्वरूप, ज्ञानमय, चेतन, निर्विकार, सतत-गामी, इच्छाशक्ति-सम्पन्न, प्रयत्नशील, शुद्ध, बुद्ध, अहिंसाशील, सत्यमय, स्वयम्भू और दैवी सत्त्व से सम्पन्न है।

रह संस्थित जीवन-रथ पर
युक्त ब्रह्म से रखता हुआ
दो हरियों को।
बादल करे सुगर्जन द्वारा
तेरे मन को
सु और अर्वाचीन।
तू है पृथिवी-गृहीत और
तुझे यह तेरी योनि मिली है
इन्द्र षोडशी के लिए ही,
तुझे मिली है
इन्द्र षोडशी के ही लिए,
सूक्ति—आ तिष्ठ वृत्रहन् रथम्।
वृत्रहन्! जोवन-रथ पर संस्थित रह॥

युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा।
अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने॥
[ऋ १. १०.३, सा १३४६] (य ८/३४)

युक्ष्व हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्य-प्रा।
अथ नः इन्द्र सोम-पाः गिराम् उप-श्रुतिम् चर।
उपयाम-गृहीतः असि इन्द्राय त्वा षोडशिने
एषः ते योनिः इन्द्राय त्वा षोडशिने॥

योगसाधिका माता की इस द्वितीय लोरी में संस्कार-विज्ञान के एक नवीन रहस्य का उद्घाटन किया जारहा है—(सोम-पाः इन्द्र) सोम-पा इन्द्र! (केशिना वृषणा कक्ष्य-प्रा हरी) दोनों केशी वर्षण-शील कक्ष्य-प्रा हरियों को (युक्ष्व हि) युक्त कर ही, युक्त ही रख (अथ) और (नः उप-श्रुतिं गिरां चर) हमारी उप-श्रुति वाणी को सेवन कर।

इन्द्र नाम इन्द्रियों के स्वामी आत्मा का है। सोम-पा नाम है सोम की रक्षा करनेवाले का। इन्द्र सोम-पा है, सोम की रक्षा करनेवाला है। इन्द्रिय-ग्राम यह देह सोम है और इन्द्र है इस सोम की रक्षा करनेवाला। सोम नाम चन्द्र और चन्द्रिका का है, रस और अमृत का है, सुख और आनन्द का है, प्यार और प्रियता का है, धर्म और पुण्य का है,

प्रहर्ष और प्राह्लाद का है, भक्ति और शक्ति का है। इतनी सौम्य सम्पदाओं का महा सागर है यह मानव देह कि जिसके किनारों का पता नहीं और उस सम्पदा की रक्षा करनेवाला और उसका सेवन करनेवाला है उसके भीतर विराजा हुआ वह देही इन्द्र! "सोमपाः इन्द्र" यह दिव्य सम्बोधन शिशु के संस्कारों में गहन उद्बोधन का समंकन करनेवाला है। सचमुच यह सम्बोधन सम्यक् बोध करानेवाला है। सम्बोधन है ही वह जो सम्यक् बोध कराये। निस्सन्देह शुद्ध और उद्बुद्ध सम्बोधन से जितना बोध होता है उतना अन्य किसी प्रकार से नहीं।

बुद्धि और मन, अथवा मस्तिष्क और हृदय ये दो हरि हैं जिनके विशेषण हैं यहां केशिना, वृषणा और कक्ष्य-प्रा।

केश का अर्थ है बाल और किरण। किरण में तेज और सौन्दर्य होता है। नारी या नर के शिर के बाल किरणवत् तेज और सौन्दर्य की छटा छटकाते हैं। सूर्य की किरणें सूर्य के केश ही हैं। शिशु के उभय हरि बुद्धि और मन, मस्तिष्क और हृदय, ज्ञान और भावना तेजोमय और सुन्दर हों। उसका मस्तिष्क हो ज्ञानकिरणों का पुञ्ज और उसका हृदय हो भावनाकिरणों का पुञ्ज। उसके मस्तिष्क से ज्ञानकिरणों का प्रसार हो और उसके हृदय से भावनाकिरणों का।

शिशु के मस्तिष्क और हृदय—ये उभय हरि हों वृषणा [वर्षणशील]। उसका मस्तिष्क बने सुविचारों, संज्ञानों और सत्य-धाराओं की वृष्टि करनेवाला। उसका हृदय बने विमल, निर्मल, समुदार, सुसाहस-पूरित भावनाओं की वृष्टि करनेवाला।

शिशु के उभय हरि हों कक्ष्य-प्रा। कक्ष्य नाम पार्श्व, पहलू तथा लक्ष्य का है। मानव-जीवन के दो कक्ष्य हैं सत्य और मोक्ष। सत्य की प्राप्ति होती है निर्विकार समाहित चिन्तन से और मोक्ष की प्राप्ति होती है निर्विकार निश्चल समाधि से। सत्य है साधन और मोक्ष है साध्य। सचमुच सत्य है मोक्ष का साधन और असत्य है बन्धन का हेतु। प्रत्येक सत्य बन्धनों का काटनेवाला है और प्रत्येक असत्य है बन्धनों में जकड़नेवाला। सत्य करता है बन्धन-मुक्त और असत्य करता है बन्धन-युक्त। "सोम-पा इन्द्र! अपने मस्तिष्क-हृदय-रूपी हरियों को किरणपुञ्जु वर्षणशील और कक्ष्यप्रापक रखता हुआ उन्हें सदैव युक्त समाहित ही रख"—कितने सुन्दर संदिव्य संस्कारों की सम्पादिका है वैदिक लोरी की यह सुसूक्ति!

"अथ नः उप-श्रुति गिरां चर"—लोरी का यह अंश विज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। गिरा का विशेषण उपश्रुति मनोविज्ञान के सुन्दर रहस्य का उद्घाटन कर रहा है। उप-श्रुति गिरा उस वाणी का नाम है जो सोते हुए या सोये हुए के निकट बैठकर बहुत धीरे से उच्चारी जाती है। उप का अर्थ है समीप, श्रुति का अर्थ है सुनी गयी, गिरा का अर्थ है वाणी। निद्रावस्था में निकट से सुनी गयी वाणी को उपश्रुति गिरा कहते हैं। उपश्रुति गिरा से पालने में झूलते हुए बालक या बालिका के मन मस्तिष्क पर जिस अमिटता के साथ संस्कारों का समंकन होता है, वह अन्य किसी प्रकार से या अन्य किसी अवस्था में होना असम्भव है।

इस प्रसंग में यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि जो बालक बालिका पालने में ख़ूब झूले होते हैं और बड़े होकर भी झूला झूलते हैं उनके मैदान, पर्वत, समुद्र या आकाश में किन्हीं भी कैसे भी यानों वाहनों में यात्रा करते हुए न उनका जी मिचलाता है, न जी घबराता है, न चक्कर या घुमेर आते हैं और साथ ही वे बड़े दृढ़मति, दृढ़संकल्प, दृढ़निश्चय, ध्रुवनिर्णय तथा अदम्य और साहसी होते हैं।

उपश्रुति गिरा के प्रयोग से न केवल पालने में झूलनेवाले शिशु में सुसंस्कारों का समंकन किया जा सकता है, अपि च किसी भी आयु के व्यक्ति के स्वभाव-संस्कारों में मनोवाञ्छित परिवर्तन लाया जा सकता है। सम्बन्धित व्यक्ति जब गाढ़ निद्रा में लीन हो, आप उस व्यक्ति के पैरों की ओर स्थित होकर उसकी नासिका के सामने अपनी नासिका और उसकी आंखों के सामने अपनी आंखें समाहित करके उपश्रुति गिरा का प्रयोग कीजिये। आप देखेंगे कि कुछ ही दिनों में उस व्यक्ति का स्वभाव और उसके संस्कार बिल्कुल बदल गए हैं, अपि च उपश्रुति गिरा द्वारा जिन शब्दों में आपने उसके भीतर जो सन्देश संचारित किए थे वह व्यक्ति बिल्कुल वैसा ही बन गया है।

मान लीजिए कि आपकी पत्नी चिड़चिड़े और विकृत स्वभाव की है। आप चाहते हैं कि वह मृदुशीला और सुभद्रा बन जाए। तो आप प्रति रात्रि कुछ मिनट उपर्युक्त विधि से उसके भीतर उसी प्रकार की स्नेहपूर्ण वाणी से उसी प्रकार के भावभरे शब्दों में अपने आत्मसन्देशों का उपश्रुति के रूप में संचार कीजिये। कुछ दिनों में वह वैसी बन जायेगी।

यदि आपकी पत्नी आपसे रुष्ट होकर अपने मायके चली गयी है और वह किसी भी प्रकार आपके पास आने को तयार नहीं है और आप चाहते हैं कि वह पुनः प्रीतिपूर्वक आपके पास आकर रहे तो आप नित्य रात्रि के दो से चार बजे के बीच अपनी मानसिक उपश्रुति गिरा द्वारा उसके प्रति अपनी सद्भावनाओं का सन्देश भेजिये और आप देखेंगे कि आपके सन्देशों से प्रभावित होकर वह पुनः आपके पास आगयी है।

इस मन्त्रस्थ लोरी की अन्तिम टेक शब्दशः पूर्व मन्त्रस्थ लोरी की अन्तिम टेक के समान ही है जिसमें गाया गया है—तू (उपयाम-गृहीतः असि) पृथिवी-गृहीत है। (ते एषः योनिः) तेरी यह योनि (त्वा षोडशिने इन्द्राय) तुझे षोडशी इन्द्र के लिए मिली है, (त्वा षोडशिने इन्द्राय) तुझे षोडशी आत्मा के लिए मिली है।

इन्द्र सोमपा,

रख सुयुक्त ही

केशी वृषण कक्ष्यप्र दो हरियों को

और हमारी गिरा उपश्रुति को सेवन कर।

तू है पृथिवीगृहीत और

तुझे यह तेरी योनि मिली है

इन्द्र षोडशी के लिए ही,

तुझे मिली है

इन्द्र षोडशी के ही लिए ॥

इन्द्रमिद्धरी वहतो ऽ प्रतिधृष्टशवसम् ।
ऋषीणां च स्तुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम् ।
उपयामगृहीतो ऽ सीन्द्राय त्वा षोडशिन
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ॥

[ऋ १. ८४. २, सा १०३०] (य ८/३५)

इन्द्रम् इत् हरी वहतः अप्रति-धृष्टशवसम् ।
ऋषीणां च स्तुतीः उप यज्ञं च मानुषाणाम् ।
उपयाम-गृहीतः असि इन्द्राय त्वा षोडशिने
एषः ते योनिः इन्द्राय त्वा षोडशिने ॥

इस तृतीय लोरी-गीत द्वारा भी योगसाधिका माता अपने शिशु में सुसंस्कारों का गहन समंकन कर रही है।

(हरी-इत्) उभय हरि ही (ऋषीणां स्तुतीः) ऋषियों की स्तुतियों को (च च) और (मानुषाणां यज्ञं) मनुष्यों के यज्ञ को (अप्रतिधृष्टशवसं इन्द्रं) अप्रतिधृष्टशवस इन्द्र के प्रति (उप-वहतः) उपवहन करते हैं, चहुंचाते हैं।

इन्द्र नाम इन्द्रियों के स्वामी आत्मा का है। इन्द्र का अप्रतिधृष्टशवस विशेषण आत्मा के एक नैसर्गिक [स्वाभाविक] गुण का द्योतन कर रहा है। अप्रतिधृष्टशवस=अप्रति+धृष्ट+शवस। अप्रति= अप्रतिम, अद्वितीय, बेजोड़, लासानी। धृष्ट=साहस, सहन-धारण करने की शक्ति। शवस=बल, मंजिल तय कराने की शक्ति। इन्द्र अप्रतिधृष्टशवस है। आत्मा अप्रतिम धृष्ट और शवस से युक्त है। आत्मा में अद्वितीय साहस और सहन-धारण करने की शक्ति निहित है। आत्मा में ही मंजिल तय करानेवाला अथवा जीवन की यात्रा में बाधक बाधाओं को पार करानेवाला बल निहित है। अप्रतिम धृष्ट और शवस आत्मा में निहित होता है, मन बुद्धि चित्त या शरीर में नहीं।

आत्मा के धृष्ट और शवस का विकास अथवा जागरण होता है ऋषियों की स्तुतियों और मनुष्यों के यज्ञ से। और ऋषियों की स्तुतियों तथा मनुष्यों के यज्ञ को निरन्तर आत्मा के प्रति पहुंचानेवाले हैं पूर्वमन्त्र में उल्लिखित केशी वृषणा कक्ष्यप्रा दो हरि, सुरश्मित वर्षणशील लक्ष्यप्रापक मस्तिष्क और हृदय।

ऋषि गतौ। ऋषि नाम उन गति-प्रगति-शील महा पुरुषों और मही महिलाओं का है जिन्होंने संसार की प्रगति और समुन्नति के लिये प्रकृष्ट साधना की होती है। स्तुति नाम है गाथा-गान का। मनुष्य नाम मननशील मानव का है और यज्ञ नाम है शुभ सुगन्धित कर्म अथवा क्रतु का।

जिन घरों में ऋषियों के गुणों का गान और महा पुरुषों तथा मही महिलाओं की गाथाओं का प्रगान होता है, जिन गृहों में मननशील मानवों की सुकृतियों की चर्चाएं होती हैं, उन घरों के दिव्य संदिव्य वातावरण में बालक-बालिकाओं के मस्तिष्क तथा हृदय सुसंस्कारों से सुवासित होते हैं। उनके सुसंस्कृत और सुवासित मस्तिष्क तथा हृदय उनके आत्मा को वे प्रकृष्ट प्रबल विचार तथा वे भव्य सबल भावनायें वहन करते रहते हैं कि जिनसे उनका आत्मा अप्रतिधृष्टशवस बन जाता है, जिनसे उनका आत्मा अमित साहस और अक्षय संबल का अक्षय अजस्र स्रोत बन जाता है।

इस मन्त्रस्थ लोरी की भी अन्तिम टेक ३३ वें मन्त्र के समान है—शिशो! तू (उपयाम-गृहीतः असि) पृथिवी-गृहीत है। (ते एषः योनिः) तेरी यह योनि (त्वा षोडशिने इन्द्राय) तुझे षोडशी इन्द्र के लिए मिली है, (त्वा षोडशिने इन्द्राय) तुझे षोडशी इन्द्र के लिए मिली है। शरीर आत्मा के लिये है, आत्मा शरीर के लिए नहीं है।

दोनों हरि ही पहुंचाते हैं,
अप्रति-साहस-सबल इन्द्र को
धवल प्रशस्तियां ऋषियों की,
यज्ञ मनीषी मानुषों के।
तू है पृथिवी-गृहीत और
तुझे यह तेरी योनि मिली है
इन्द्र षोडशी के लिए ही,
तुझे मिली है
इन्द्र षोडशी के ही लिये॥

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥
[य ३२/५] (य ८/३६)

यस्मात् न जातः परः अन्यः अस्ति यः आ-विवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजा-पतिः प्रजया सं-रराणः त्रीणि ज्योतींषि सचते सः षोडशी।

तीन मन्त्रस्थ लोरियों से आत्मबोध के सुसंस्कारों का समंकन करके योगसाधिका माता इस चतुर्थ लोरी-गान द्वारा अपने शिशु में ब्राह्मबोध के सुसंस्कारों का समंकन करती है—मेरे बच्चे! (यस्मात् परः) जिससे परे, जिससे बढ़कर (अन्यः) अन्य, कोई दूसरा (न जातः अस्ति) नहीं हुआ है, (यः) जिसने (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकलोकान्तरों को (आ-विवेश) व्यापा हुआ है, (सः षोडशी प्रजापतिः) वह षोडशी प्रजापति (प्रजया सं-रराणः) प्रजा के साथ संरमण करता हुआ (त्रीणि ज्योतींषि) तीनों ज्योतियों को (सचते) समवेतता है, संजोता है, सींचता है।

ब्रह्म के लिए यहां प्रजापति शब्द का प्रयोग अत्यन्त सार्थक है। अखिल आत्मायें आत्मरूप प्रजायें हैं और ब्रह्म उन सबका प्रजापति है। उनकी शारीरिक माता है प्रकृति और आत्मिक पिता है प्रजापति परमात्मा। परमात्म-प्रजापति अपनी आत्म-प्रजाओं से पृथक् नहीं है, उनमें व्यापा हुआ उनके साथ संरमण कररहा है। आत्मा आत्मा के साथ संरमण करता हुआ परमात्म-प्रजापति सदैव सोलहों कलाओं से कलान्वित रहता है और तीनों ज्योतियों को ज्योतित करता है।

प्रजापति की सोलह कलायें हैं—

१) सत्	२) चित्
३) आनन्द	४) शक्ति
५) सर्वज्ञता	६) सर्वव्याप्ति
७) पवित्रता	८) प्रकाश
९) वर्च	१०) कर्तृत्व [रचना, स्थिति, प्रलय]
११) स्नेह	१२) दया
१३) न्याय	१४) दान
१५) ईशत्व	१५) मोक्ष

तीन ज्योतियां हैं ज्ञानज्योति [वेदज्योति], भौतिक देवों में प्रकाशित प्राकृत ज्योति तथा आत्मज्योति—जो प्रजापति की ब्राह्म ज्योति से समवेत होकर ज्योतित होती हैं।

अपने शिशु को ब्राह्म संस्कारों से समंकित करने के लिए माता लोरी गान कररही है—

जिससे परे न अन्य हुआ है,
जिसने व्यापा सब भुवनों को,
वह षोडशी प्रजापति करता
हुआ संरमण साथ प्रजा के
है करता समवेत तीन ज्योति को ॥

सूक्ति—त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी।
वह षोडशी तीनों ज्योतियों को समवेत करता है।

इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतुरग्र एतम्।
तयोरहमनु भक्षं भक्षयामि वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहा ॥
(य ८/३७)

इन्द्रः च सम्राट् वरुणः च राजा तौ ते भक्षम् चक्रतुः अग्रे एतम्।
तयोः अहम् अनु भक्षम् भक्षयामि वाक् देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहा ॥

लोरियों से लोरित शिशु सुसंस्कारों से सुसंस्कृत और कलाओं से कलान्वित होता चला जारहा है। अपनी होनहारता से किलकारते हुए मानों बालक का आत्मा योगसाधिका माता से कह रहा है—

१) मातः ! (इन्द्रः च सम्राट् वरुणः च राजा) इन्द्र सम्राट् और वरुण राजा—(तौ) उन दोनों ने (ते एतं भक्षं) तेरे इस भक्ष को (अग्रे) सर्वप्रथम (चक्रतुः) [भक्षण] किया था।

गर्भावस्था शिशु के जीवन की अग्रावस्था [प्रथमावस्था] थी। अग्रावस्था में शिशु के इन्द्र-सम्राट् तथा वरुण राजा ने माता के भक्ष [भोजन] का भक्षण किया था। कौन है शिशु का इन्द्र सम्राट् ? कौन है उसका वरुण राजा ? क्या है भक्ष ?

इन्द्र नाम सूर्य का है। वरुण नाम चन्द्रमा का है। शिशु का मस्तिष्क है इन्द्र-सम्राट् [सूर्य के समान प्रकाशनेवाला]। उसका हृदय है वरुण-राजा [चन्द्रमा के समान रञ्जन करनेवाला]।

माता के अङ्ग अङ्ग से शिशु का अङ्ग अङ्ग बनता है। माता के मस्तिष्क से शिशु का मस्तिष्क बना है। माता के हृदय से शिशु का हृदय बना है। मानव-मस्तिष्क इन्द्र [सूर्य] के समान विचार-किरणों तथा ज्ञानरश्मियों का पुञ्ज है तो मानव-हृदय वरुण [चन्द्रमा] के समान प्राह्लादक संकल्पों तथा सुरञ्जक भावनाओं का पुञ्ज है। अग्रावस्था [गर्भावस्था] में शिशु के इन्द्र-सम्राट् [मस्तिष्क] ने अपनी योगसाधिका माता के सुविचारारूपी भक्ष का सेवन किया था और उसके वरुण राजा [हृदय] ने माता के सुसंकल्प और सुभावना रूपी भक्ष का भक्षण किया था। माता के अङ्ग अङ्ग से उसका अङ्ग अङ्ग भी बना ही है। अतः शिशु वैष्णवी सुसंस्कारों से सुसंस्कृत है और कलाओं से कलान्वित होता चला जारहा है।

२) मातः ! (अहं) मैं (तयोः) उन दोनों में (भक्षं) भक्ष को (अनु-भक्षयामि) अनुभक्षण कर रहा हूं।

मस्तिष्क और हृदय—ये दो ही कोष हैं जिनमें संस्कारों का समंकन होता है। इन दो कोषों में गर्भावस्था में जैसे संस्कार समंकित होजाते हैं उन्हीं के आधार पर जन्मोपरान्त शिशु नवीन संस्कारों का भक्षण [ग्रहण] करता है और उन्हीं के अनुसार उसके जीवन का विकास होता है। योगसाधिका माता के गर्भ में वैष्णव संस्कारों से सुसंस्कृत हुआ शिशु वैसे ही संस्कारों का अनुग्रहण करता हुआ सर्वतः सुविकसित होता चला जा रहा है।

३) (वाक् देवी प्राणेन सह) वाणी देवी प्राण के साथ (स्वाहा) सुभाषित होकर (सोमस्य जुषाणा) सोम का सप्रेम सेवन करती हुई (तृप्यतु) तृप्त करे।

आकाश [अवकाश] में वायु के व्याघात से ध्वनियां उत्पन्न होती हैं। मनुष्य जब अपनी वाणी से बोलना चाहता है तो उसकी जिह्वा मुखाकाश में प्राण से प्रेरित अथवा प्रताड़ित होकर शब्दों का उच्चारण करती है। शब्द शब्द के उच्चारण से पूर्व मस्तिष्क अपने विचार और हृदय अपनी भावनायें प्रस्फुरित कर रहा होता है। विचार और भावना वाणी की पुरोगवी हैं। विचार और भावना के अनुसार प्राण से अनुप्रेरित होकर ही मानव की वाणी शब्द पर शब्द बोल रही होती है। प्राण के प्रेरण से मानव की वाणी उसके विचारों और भावनाओं का प्रकाशन करती है।

वाणी के चार स्तेज हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। बोलनेवाला आत्मा है। वाणी बोलने का साधन है। आत्मा जब अपनी अभिव्यक्ति का प्रकाशन करना चाहता है तब वह सर्वप्रथम अपनी प्रचेतना से हृदय [हृदयस्थ मन] को प्रचेतित करता है, क्योंकि आत्मा का हृदय में निवास होने से मन आत्मा का नेदिष्ठ [निकटतम]

है। आत्मा से प्रचेतित हृदय में जो भावनारूप आत्मध्वनियां ध्वनित होती हैं, उसका नाम परा वाणी है। परा वाणी की भावनारूप आत्मध्वनियां मस्तिष्क के चिन्तन को प्रचेतित करती हैं और परिणामस्वरूप मस्तिष्क भावनारूप विचारों का क्रमबद्ध शब्दमय नियोजन करता है। विचारों के इस क्रमबद्ध शब्द-नियोजन का नाम है पश्यन्ती वाणी। पश्यन्ती वाणी विचारों के व्यक्तिकरण के लिये शब्दों के जिस प्रवाह का मुखस्थ आकाश में निर्झरण करती है उसे कहते हैं मध्यमा वाणी। मध्यमा वाणी से प्रेरित होकर मुख से जो शब्द बाहर निकल निकल कर सब ओर बिखरते हैं उसकी संज्ञा है वैखरी वाणी। चारों ही वाणियों की गति का वाहन है शरीरगत प्राण।

हृदय की सुभावनाओं से सुभावित और सुसंस्कारों से सुसंस्कृत मस्तिष्क के सुविचारों से सुविचारित वाणी सुभाशित होती ही है, क्योंकि वह सुभावना-सोम अपि च सुविचार-सोम दोनों का सप्रेम सेवन करती है। हृदय की भावनाओं से सिक्त और मस्तिष्क के सुविचारों और सुचिन्तनों से प्रसिक्त वाणी न केवल सुभाषित होती है, अतिशय तृप्तिकारक भी होती है, आत्मतृप्ति-सम्पादक भी होती है। योगसाधिका माता के शिशु की वाणी सुभाषित और सोमसेवी होनी ही चाहिए और साथ ही जन जन को तृप्त करनेवाली भी।

सम्राडिन्द्र वरुण राजा ने
दोनों ने इस तेरे भक्ष को
सेवन था सर्वाग्र किया।
अनुभक्षण करता हूं मैं उन
दोनों में ही सतत भक्ष को।
देवी वाणी प्राणसहित
सुभाषित होकर
करती हुई सोम का सेवन
स्नेहसहित, तृप्ते जन जन को॥

सूक्ति—वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु।
देवी वाणी सोम का सप्रेम सेवन करती हुई तृप्त करे॥

अग्ने पवस्व स्वापा अस्मे वर्चः सुवीर्यम्।
दधद्रयिं मयि पोषम्।
उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चस एष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे।
अग्ने वर्चस्विन्वर्चस्वांस्त्वं देवेष्वसि वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम्॥
(य ८/३८)
[ऋ ९. ६६. २१, सा १५२०]

अग्ने पवस्व सु-अपाः अस्मे वर्चः सु-वीर्यम्।
दधत् रयिम् मयि पोषम्।
उपयाम-गृहीतः असि अग्नये त्वा वर्चसे एषः ते योनिः अग्नये त्वा वर्चसे।
अग्ने वर्चस्विन् वर्चस्वान् त्वम् देवेषु असि वर्चस्वान् अहं मनुष्येषु भूयासम्॥

स्वपाः=सु+अपाः। सु=सुन्दर, सुशोभन, उत्तम। अपाः नाम है प्रवाहों का। प्रवाहमय होने से अपाः नाम जलों का है। प्रवाही होने से कर्मों की संज्ञा भी अपाः है। अग्नि=अग्रणी, प्रकाशक, पावक।

मयि का प्रयोग यहां व्यक्तिवाचक है, **अस्मे** का समिष्टवाचक। पोष से तात्पर्य शारीरिक पुष्टि अथवा शरीर-स्वास्थ्य से है। रयि से तात्पर्य है आत्मैश्वर्य, आत्मिक पुष्टि, आत्म-स्वस्थता, आत्म-सम्पदा। पोष और रयि के संयोग में ही वर्च

[तेज] तथा सुवीर्य [सुपराक्रम] का प्रादुर्भवन होता है।

मन्त्र २८ से मन्त्र ३७ तक योगविधि से सन्तति-विज्ञान का निरूपण करने के उपरान्त मन्त्र २७ से संगत होकर यह मन्त्र पुनः विष्णु योग अथवा प्रयति यज्ञ की व्याप्ति के साथ संयोजन करता है।

विष्णु-योग के साधक अथवा प्रयति यज्ञ के सम्पादक के लिए गृहस्थाश्रम न भोगालय है न रोगालय। उसके लिये उसका गृहस्थाश्रम है योगाश्रम, साधनाश्रम, प्रयति यज्ञ की सुवेदि, धर्मस्थली, सुकर्मस्थली और विश्वकल्याण-सम्पादन का दिव्य संदिव्य केन्द्र। अपनी योगसाधिका पत्नी के सहचार और अपने सुसंस्कृत परिवार के सहयोग से सुयुक्त हुआ योगसाधक मन्द और स्थिर गति से लोककल्याण को साध में निरत है। इसी भव्य भाव के द्योतन के लिए इस मन्त्र में वेदमाता ने व्यक्ति और समाज के मुख से योगसाधक के प्रति कहलवाया है—

१) (सु अपाः अग्ने)! (मयि) मुझमें (पोषं रयिं) पुष्टि और आत्मैश्वर्य (दधत्) धारण-स्थापन करता हुआ (अस्मे) हममें (वर्चः सुवीर्यम्) तेज और सुपराक्रम (पवस्व) प्रेर, क्षरण कर, संचार कर।

सुकर्मों अथवा सुसाधनाओं का सुप्रवाह प्रवाहित करनेवाला होने से यहां वैष्णव योग के साधक को स्वपाः [सु-अपाः] सम्बोधित किया गया है। विश्व की मानव-प्रजा का अग्रणी प्रकाशक और पावक होने से उसे अग्ने कहकर पुकारा गया है। "स्वपाः अग्ने! मुझमें, व्यक्ति व्यक्ति में पोष और रयि की स्थापना करके हममें, सारे मानव-समाज में तेज और सुपराक्रम का संचार करदे"। योगसाधक की साध का यही चरम लक्ष्य है। स्वयं योगी बनना योग है। स्वयं योगी बनकर अखिल मानव-प्रजा को योगी बनाना परम योग है। विश्व को योगी बनाने के लिए ही योग-सम्पदा है।

२) तू (उपयाम-गृहीतः असि) पृथिवी-गृहीत है। तेरी साध कृपण साध नहीं है, परमोदार साध है। तुझे विश्व की समस्त भोगी प्रजा को योगी बनाना है।

३) (ते एषः योनिः) तेरी यह जीवनी (त्वा अग्नये वर्चसे) तुझे अग्नि और वर्च के लिये, (त्वा अग्नये वर्चसे) तुझे अग्नि के समान अग्रगमन प्रकाशन तथा पूतीकरण के लिये और तेजविस्तार के लिये मिली है।

और अपने मन में अपनी साध की अपरिमेयता [असीमता] का अनुभव करता हुआ वैष्णव योगसाधक परम पावन प्रभु से विनय करने लगता है—(वर्चस्विन् अग्ने) तेजस्वरूप प्रकाशमान् देव! (त्वं) तू (देवेषु) देवों में, अखिल प्राकृत देवों में (वर्चस्वान् असि) तेजस्वी है। तेरे तेज से तेजित होकर (अहं) मैं (मनुष्येषु) मनुष्यों में (वर्चस्वान्) वर्चस्वी (भूयासम्) होजाऊं, रहूं। तेरे परम वर्च से वर्चस्वी रहते हुए ही मैं यह दिव्य साध सिद्ध कर पाऊंगा।

अग्ने स्वपा! स्थापन करता
हुआ पोष और रयि तू मुझमें
हममें कर संचार वर्च तू
और सुवीर्य।
तू है पृथिवी-गृहीत
और तेरी यह योनि मिली है
तुझे अग्नि और वर्च के लिए,
तुझे मिली है
अग्रगमन और तेज के लिए।
अग्ने वर्चस्विन्,
है तू देवों में वर्चस्वान्,
रहूं मैं वर्चस्वी मनुजों में॥

सूक्ति—वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम्।
रहूं मैं वर्चस्वी मनुजों में॥

उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे अवेपयः ।
सोममिन्द्र चमू सुतम् । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वौजस
एष ते योनिरिन्द्राय त्वौजसे । इन्द्रौजिष्ठौजिष्ठस्त्वं
देवेष्वस्योजिष्ठो ऽहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ (य ८/३९)
[ऋ ८. ७६. १०, सा ९८८. अ २०. ४२. ३]
उत्-तिष्ठन् ओजसा सह पीत्वी शिप्रे अवेपयः ।
सोमम् इन्द्र चमू सुतम् । उपयाम-गृहीतः असि
इन्द्राय त्वा ओजसे एषः ते योनिः इन्द्राय त्वा ओजसे ।
इन्द्र ओजिष्ठ ओजिष्ठः त्वं देवेषु असि ओजिष्ठः अहम्
मनुष्येषु भूयासम् ॥

और प्रभु की उदात्त और प्रबल प्रेरणा से प्रेरित होकर योगसाधक अपने आत्मा को सम्बोधन करता हुआ कहने लगता है—

१) (इन्द्र) आत्मन् ! तूने (चमू सुतं सोमम्) चमू [में] निष्पादित सोम (पीत्वी) पीकर (ओजसा सह उत्-तिष्ठन्) ओज के साथ उठते हुए (शिप्रे) दोनों शिप्रों को (अवेपयः) हिला दिया है ।

चमू नाम सेना, द्यौलोक और मस्तिष्क का है । सेना में जिस प्रकार सैनिक जगमगाते हैं, द्यौलोक में जिस प्रकार प्रकाशलोक जगमगाते हैं, उसी प्रकार मस्तिष्क में दिव्य विचार जगमगाते हैं। दिव्य विचार मस्तिष्क का सोम है । दिव्य विचारों का निष्पादन गहन दिव्य चिन्तन से होता है ।

शिप्र नाम हनु अथवा ठोड़ी का है । द्विवचन में शिप्र का अर्थ सर्वत्र अन्तरिक्ष [हृदय, मन] और पृथिवी [शरीर] होता है । अध्यात्म में मस्तिष्क द्यौस्थानीय है, हृदय अन्तरिक्षस्थानीय है, शरीर पृथिवीस्थानीय है ।

योग की शक्ति महान् है । योगसाधक ने अपने मस्तिष्क-चमू में निष्पादित चिन्तन-सोम के ओज से अपने आपको बहुत ऊंचा उठाया है और अपने कृत्य तथा वचन से जन जन के हृदय-तथा-शरीर-शिप्रों को हिला दिया है । योगसाधक का चिन्तन एक महा शक्ति है, एक अपरिमेय विराट् शक्ति है, जिसकी विचार-तरंगों को अखिल विश्व में व्यापकर वह सारी सृष्टि के सर्वमानवों के अन्तरिक्षों [अन्तःकरणों] तथा जीवनों को अपनी विचार-तरंगों से तरंगित किए चला जा रहा है ।

२) तू (उपयाम-गृहीतः असि) पृथिवी-गृहीत है । तुझे अखिल विश्व को अपने योग-प्रसाद से प्रसादित करना है ।

३) (एषः ते योनिः) तेरा यह जीवन (त्वा इन्द्राय ओजसे) तुझे इन्द्र और ओज के लिए मिला है, (त्वा इन्द्राय ओजसे) तुझे आत्मविश्वास और ओजसंचार के लिए मिला है । तुझे जन जन में आत्मत्व तथा ओज को जागृत करना है ।

और अब अपनी साध की अपरिमेयता का अनुभव करता हुआ वह प्रभु से आत्मनिवेदन करने लगता है—(ओजिष्ठ इन्द्र) सर्वातिशय ओजस्वी विश्वात्मन्! ओजस्वीतम प्रभो ! (त्वं देवेषु ओजिष्ठः असि) तू [प्राकृत] देवों में ओजस्वीतम है । तेरे ओज से ओजित होकर (अहं मनुष्येषु ओजिष्ठः भूयासम्) मैं मनुष्यों में ओजस्वीतम होजाऊं ।

इन्द्र उभय शिप्रों को तूने
हिला दिया है,
पीकर सोम चमू-सुत उठकर सहित ओज के ।

तू है पृथिवी-गृहीत
और तेरी यह योनि मिली है
तुझे इन्द्र और ओज के लिए,
तुझे मिली है
आत्मविभव और ओज के लिए।

ओजिष्ठ इन्द्र,
तू है देवों में ओजस्वीतम,
रहूं मनुष्यों में मैं ओजस्वीतम ॥
सूक्ति—ओजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम्।
मैं मनुष्यों में ओजस्वीतम रहूं ॥

अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु। भ्राजन्तो अग्नयो यथा।
उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय।
सूर्य भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि भ्राजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम् ॥
(य ८/४०)
[ऋ १.५०.३, अ १३.२.१८, सा ६३८]

अदृश्रम अस्य केतवः वि रश्मयः जनान् अनु। भ्राजन्तः अग्नयः यथा।
उपयाम-गृहीतः असि सूर्याय त्वा भ्राजाय एषः ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय।
सूर्य भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठः त्वम् देवेषु असि भ्राजिष्ठः अहम् मनुष्येषु भूयासम् ॥

पूर्व दो मन्त्रों में योगसाधक ने जिस प्रकाश-स्वरूप विश्वात्मा परमात्मा से वर्च और ओज की याचना की थी, उसी विश्वात्मा की ज्योति को सर्वत्र निहारता हुआ वह ब्रह्मानुभूति व्यक्त करने लगता है—(यथा) जिस प्रकार (भ्राजन्तः अग्नयः) प्रदीप्त हुई अग्नियां (जनान् अनु) जनों को अनुदर्शन कराती हैं, जनों को सब कुछ दर्शाती हैं, उसी प्रकार मैंने (अस्य) इस [विष्णु] की (केतवः रश्मयः) प्रज्ञापक रश्मियों को (वि-अदृश्रम्) साक्षात् देख लिया है। उसकी प्रज्ञापक रश्मियां मुझे सब कुछ निर्भ्रान्ति और निर्भ्रम रूप से दर्शा रही हैं। उसकी प्रज्ञापक रश्मियों ने मुझे निर्भ्रान्त और निर्भ्रम बना दिया है।

और अब आनन्द-विभोर हुआ वह आत्म-सम्बोधन करता है—तू (उपयाम-गृहीतः असि) पृथिवी-गृहीत है। तुझे सारी पृथिवी को निर्भ्रान्ति और निर्भ्रम बनाना है। सम्पूर्ण पृथिवी पर तुझे विष्णु की प्रज्ञापक रश्मियां किरणित करनी हैं। (एषः ते योनिः) यह तेरी [मानव] योनि (त्वा भ्राजाय सूर्याय) तुझे प्रकाश और सूर्य के लिए, (त्वा भ्राजाय सूर्याय) तुझे सूर्य के समान प्रकाश फैलाने के लिए [मिली है]।

और अपनी साध को गुरुता की अनुभूति से अनुभूत हुआ वह सूर्यों के परम सूर्य और गुरुओं के परम गुरु विष्णु भगवान् से विनय करने लगता है—(भ्राजिष्ठ सूर्य) सर्वातिशय प्रकाशनेवाले सूर्य! (त्वं देवेषु भ्राजिष्ठः असि) तू [प्राकृत] देवों में सर्वातिशय प्रकाशमान् है। तेरे प्रकाश से प्रकाशित होकर (अहं मनुष्येषु भ्राजिष्ठः भूयासम्) मैं मनुष्यों में भ्राजस्वीतम होजाऊं।

जैसे देदीप्यमान अग्नियां
जनों को अनुदर्शाती हैं,
साक्षात् कर लिया है मैंने
इसकी ज्ञापक रश्मियों को।
है तू पृथिवी-गृहीत
और तेरी यह योनि मिली है
तुझे भ्राज और सूर्य के लिये,
तुझे मिली है
प्रकाश और सूर्य के लिये।
भ्राजिष्ठ सूर्य,
तू है देवों में भ्राजस्वीतम,
रहूं मनुष्यों में मैं भ्राजस्वीतम ॥
सूक्ति—अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयः।
मैंने इसकी प्रज्ञापक रश्मियों को अवलोकन किया है ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ।
उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः
सूर्याय त्वा भ्राजाय ॥ (य ८/४१)

[ऋ १. ५०. १, य ७/४१, ३३/३१, साम ३१, अ १३. २. १६, २०. ४७. १३)

उत् उ त्यम् जात-वेदसम् देवम् वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ।
उपयाम-गृहीतः असि सूर्याय त्वा भ्राजाय एषः ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय ।

पूर्व मन्त्रानुसार वैष्णव योग का साधक यहां पुनः विश्वात्मा विष्णुरूप सूर्य की अनुभूतिपूर्ण महिमा का प्रगान करने लगता है—(त्यं जात-वेदसं सूर्यं देवं) उस जात-वेदस सूर्य देव को (विश्वाय दृशे उ) विश्वार्थ दर्शाने के लिये ही (केतवः) पताकायें (उत्-वहन्ति) फहरा रही हैं।

जातवेदस=जात-वेदस। जातमात्र को प्राप्त अथवा जातमात्र में व्यापक होने से विष्णु जातवेदस है। जातमात्र को जाननेवाला होने से भी वह जातवेदस है। अतः जातवेदस का अर्थ है सर्वव्यापक और सर्वज्ञ। सर्वव्याप्ति और सर्वज्ञता का परस्पर सम्बन्ध है। एकदेशीय सर्वज्ञ नहीं हो सकता। जो सर्वत्र व्यापा हुआ है वह सर्वत्र सब कुछ जानता है।

केतु नाम ज्ञापक, प्रज्ञापक, झण्डा, पताका और किरण का है। प्रकृति की सम्पूर्ण प्रज्ञायें, प्राकृत सकल लोकलोकान्तर और अखिल प्रकाशलोक उस परम सूर्य विष्णु देव की प्रज्ञापक पताकायें और किरणें हैं। विश्वमानवों को उसी की प्रजा बनाने के लिए ही योगसाधक की विश्वव्यापिनी योग-साध है।

और अब अपनी इसी साध की संसिद्धि के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हुआ वह स्वयं अपने जीवन को सम्बोधन करता है—तू (उपयाम-गृहीतः असि) पृथिवी-गृहीत है। तुझे सारी पृथिवी के सर्वमानवों को उस परम सूर्य का संदर्शन कराना है। (एषः ते योनिः) यह तेरा जीवन (त्वा सूर्याय भ्राजाय) तुझे सूर्यार्थ और प्रकाशार्थ [मिला है], (त्वा सूर्याय भ्राजाय) तुझे सूर्य के समान प्रकाश व्यापने के लिए [मिला है]।

उस सर्वज्ञ और सर्वव्यापक
सूर्य देव को
सर्वार्थ दर्शाने के लिये
ही हैं फहरा रहीं झण्डियां।
तू है पृथिवी-गृहीत,
और तेरी यह योनि मिली है
तुझे सूर्य और भ्राज के लिए,
तुझे मिली है
सूर्य और प्रकाश के लिये ॥

आ जिघ्र कलशं मह्या त्वा विशन्त्विन्दवः ।
पुनरूर्जा नि वर्तस्व सा नः सहस्रं धुक्ष्वोरुधारा
पयस्वती पुनर्मा विशताद्रयिः ॥ (य ८/४२)

आ-जिघ्र कलशम् महि आ त्वा विशन्तु इन्दवः ।
पुनः ऊर्जा नि-वर्तस्व सा नः सहस्रम् धुक्ष्व
उरु-धारा पयस्वती पुनः मा आ-विशतात् रयिः ॥

विष्णुयाग का सम्पादक, प्रयति यज्ञ का निष्पादक यह योगसाधक पृथिवी-गृहीत है। उसकी साध सार्वभौम है। सम्पूर्ण पृथिवी पर सूर्य के प्रकाश के समान वैष्णव प्रकाश व्यापने की उसकी महती आकांक्षा है। अपनी उस महत्त्वाकांक्षा को सम्बोधन करता हुआ वह कह रहा है—

१) (महि) महत्त्वाकांक्षे ! मेरे (कलशं) कलश को, हृदय-कलश को (आ-जिघ्र) सूंघ, सूंघती रह। जिस प्रकार घ्राण [नाक, नासिका] से गन्ध का स्पर्श किया जाता है, उसी प्रकार तू मेरे हृदय-कलश का निर्बाध स्पर्श करती रह। तू मेरे कलश में नितराम विराजती हुई सोम के समान कल कल करती रह।

२) महत्त्वाकांक्षे ! तू मेरी असंख्य आकांक्षाओं की केन्द्रबिन्दु है। जिस प्रकार सोमकलश में सोम की असंख्य बून्दें क्षरण करती हैं और सोमकलश को आपूर भरा रखती हैं, वैसे ही मेरी आकांक्षारूप (इन्दवः) इन्दुयें, बिन्दुयें [मेरे हृदयकलश में क्षरण करती हुई] (त्वा आ-विशन्तु) तुझे आवेशें, तुझमें प्रवेश करती रहें।

एक महत्त्वाकांक्षा में असंख्य आकांक्षायें अन्तर्निहित होती हैं। एक ब्रह्मप्राप्ति की महत्त्वाकांक्षा में एकान्त शान्त निवास की, आत्मशोधन की, आत्मबोधन की, आत्मसाक्षात्कार की, चित्तवृत्तिनिरोध की, यम नियम के पालन की, आसन और प्राणायाम के अभ्यास की, प्रत्याहार के प्रसाधन की, धारणा-ध्यान-समाधि की सिद्धि की, इत्यादि असंख्य आकाक्षायें प्रविष्ट रहती हैं। प्रत्येक महत्त्वाकांक्षा-वृक्ष पर असंख्य आकांक्षायें प्रस्फुटित होती हैं। योगसाधक की सार्वभौम महत्त्वाकांक्षा से भी साधन-साधना-रूप असंख्य आकांक्षायें जटित हैं।

३) महत्त्वाकांक्षे ! (उरु-धारा पयस्वती सा) महद्-धारा अमृतमयी वह तू (ऊर्जा) उत्स्रवण द्वारा, परम पराक्रम के साथ (नि-वर्तस्व) नितराम वर्त, निरन्तर वर्तमान रह, सतत सन्तत सम्प्राप्त रह। मुझसे कभी वियुक्त न हो।

महत्त्वाकांक्षा और पराक्रम का अभिन्न संयोग है। महत्त्वाकांक्षा ही परम पराक्रम की जननी है।

४) महत्त्वाकांक्षे ! वह तू (पुनः) पुनः पुनः, निरन्तर (नः) हमें (सहस्रं) असंख्य [साधन-स्रोत] (धुक्ष्व) दुह, प्रवाहित कर।

महत्त्वाकांक्षा के साथ जहां महत्पराक्रम होता है, वहां कालान्तर में साधनों के असंख्य स्रोत सुप्रवाहित होने लगते हैं और होते रहते हैं।

५) महत्त्वाकांक्षे ! (पुनः) पुनः पुनः, सतत सन्तत, निरन्तर (मा) मुझे (रयिः) आत्मैश्वर्य (आ-विशतात्) प्रवेश करा, प्राप्त करा, प्राप्त कराती रह।

आत्मैश्वर्य सकल साधनों का परम साधन है। इस परम साधन की छाया में अन्य सब साधन वरदान सिद्ध होते हैं। आत्मैश्वर्य से वञ्चित होकर अन्य सब साधन साधक न होकर बाधक बन जाते हैं।

महि ! कलश को सूंघ,
इन्दुयें तुझे प्रवेशें।
उरुधारा पयस्वती वह तू
पराक्रम के साथ रह वर्तमान निरन्तर।
पुनः दुह सहस्र तू हमें,
पुनः मुझमें प्रवेश आत्मधन ॥

सूक्ति—आ जिघ्र कलशं महि।
महत्त्वाकांक्षे ! हृदयकलश को सूंघ ॥
पुनर्मा विशताद्रयिः ॥
पुनः पुनः मुझमें आत्मैश्वर्य प्रविष्ट कर ॥

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति ।
एता ते अघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात् ॥ (य ८/४३)

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योते अदिते सरस्वति महि विश्रुति ।
एता ते अघ्न्ये नामानि देवेभ्यः मा सु-कृतम् ब्रूतात् ॥

अपनी सार्वभौमिकतापूर्ण महत्त्वाकांक्षा को उद्‌बुद्ध करने और उसे प्रबुद्ध रखने के लिए पृथिवी-गृहीत योगसाधक सदैव गाता रहता है—

१) इडे ! रन्ते ! हव्ये ! काम्ये ! चन्द्रे ! ज्योते ! अदिते ! सरस्वति ! विश्रुति ! अघ्न्ये !

२) (महि) महत्त्वाकांक्षे ! (एता ते नामानि) ये तेरे नाम हैं ।

३) तू (मा) मुझे (देवेभ्यः) दिव्यताओं [की प्राप्ति] के लिए (सु-कृतं ब्रूतात्) सुकृत कह, सुकृत बताती रह, सुसाधना का मार्ग प्रदर्शित करती रह ।

नामानि पद का प्रयोग यहां नमनीय गुणों के लिये हुआ है । नम से नाम । नाम का धात्वर्थ नमनीयता ही है । जहां वास्तव में शुभ श्रेष्ठ महत्त्वाकांक्षा होती है वहां उपर्युक्त दश नमस्करणीय गुण अवश्यमेव विद्यमान होते हैं । ये दश नमनीय गुण ही हैं जो महत्त्वाकांक्षाओं की सिद्धि कराते हैं ।

महत्त्वाकांक्षा का प्रथम नाम [नमस्करणीय गुण] है इडा । महत्त्वाकांक्षी में इडा का निवास होना ही चाहिये । इडा के दो प्रसिद्ध अर्थ हैं वाणी और स्तुति । इडा नाम उस वाणी का है जो स्तुति के योग्य हो, स्तुत्य हो । स्तुत्य, प्रशस्त, प्रशंसनीय वचन बोलनेवाली वाणी को ही इडा कहते हैं । योगसाधक ने वाणी की साधना की है । उसने अपनी वाणी को इडा बनाया है । वह एक एक शब्द को सम्यक् तराशकर और नाप तोल कर आत्मीयता तथा समाधानकारिता के साथ बोलता है । वह अपनी वाणी से अनुभूत सत्यों और तथ्यों का ही प्रकाशन करता है ।

महत्त्वाकांक्षा का दूसरा नाम है रन्ता । रन्ता का अर्थ है रमणीय, रमणीयता, सुरम्यता । महत्त्वाकांक्षी में रमणीयता तथा सुरम्यता भी होनी ही चाहिये । योगसाधक ने अपने जीवन में रन्ता की प्रस्थापना की है । उसकी आकृति, उसकी वेशभूषा, उसकी प्रत्येक गति और चेष्टा—सब, सब कुछ नितान्त आकर्षक, अतिशय रमणीय और सुरम्य है ।

महत्त्वाकांक्षा का तीसरा नाम है हव्या । हवि से हव्या । हव्या नाम है आहुतिशीलता का । सर्वहिताय अपने शुभ श्रेष्ठ की आहुति देना, सबके लिये इष्टचिन्तन करना, सबके प्रति हितभावना होना, अपनी सेवा और साधना से सबका कल्याण करना—यह आहुतिशीलता है । योगसाधक के शील में आहुतिशीलता सम्पूर्णतया संसिद्ध है ।

महत्त्वाकांक्षा का चौथा नाम है काम्या । काम्या नाम कमनीया और कमनीयता का है । योगसाधक ने आत्मसाधना द्वारा अपने आपको ऐसा कमनीय और कमनीयतामय बना लिया है कि सर्वत्र मानव-प्रजा उसके मिलन और दर्शन की कामना करती है ।

महत्त्वाकांक्षा का पांचवां नाम है चन्द्रा । चन्द्र से चन्द्रा । चन्द्रा का अर्थ है आह्लादिका, आह्लादित करनेवाली, आह्लादवृत्ति । आह्लादवृत्ति से साधक साधनापथ की विकटतम घाटियों को अनथकता के साथ समुस्कान पार कर जाता है । योगसाधक ने आह्लादवृत्ति को अपने स्वभाव का अंग बना लिया है ।

महत्त्वाकांक्षा का छटा नाम है ज्योति। ज्योति से तात्पर्य यहां अन्तर्ज्योति से है। योगसाधक के अन्तःकरण में आत्मज्योति और ब्रह्मज्योति जगमगा रही है। बुद्धि और मन की ज्योति तो टिमटिमाते हुए मिट्टी के दीपक हैं जो वात के झोंके से बुझ जाते हैं। आत्म-ब्रह्म-ज्योति ही वह ज्योति है जो सदैव एकरूप प्रज्वलित और प्रकाशित रहती है।

महत्त्वाकांक्षा का सातवां नाम है अदिति। अदिति के प्रसिद्ध तीन अर्थ हैं अखण्ड, अदम्य और अदीन। अदम्यता और अदीनता के साथ अखण्ड साधना से ही परमोत्कट महत्त्वाकांक्षाओं की सिद्धि होती है। योगसाधक अदम्यता और अदीनता के साथ अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की अखण्ड साध में निरत है।

महत्त्वाकांक्षा का आठवां नाम है सरस्वती। सरस्वती मूर्धा के सानु [उच्चतम शिखर] और हृदय के सोमसागर से क्षरण करती हुई वाणी द्वारा सुप्रवाहित होती है। सत्त्व के नितान्त संशुद्ध और आत्माग्नि के नितान्त प्रबुद्ध होने पर जब ज्ञान और विवेक मूर्धा के सानु तथा सोमसागर से क्षरित होकर वाग्धारा से प्रवाहित हुए सत्य का प्रकाशन करते हैं, उस प्रवाहित ज्ञान-धारा का नाम सरस्वती है। योगसाधक ने गहन अन्तस्साधना द्वारा सरस्वती के प्रवाह को सुप्रवाहित किया हुआ है।

महत्त्वाकांक्षा का नवां नाम है विश्रुति। विश्रुति नाम उस कीर्ति का है जो सर्वाङ्गीण और सर्वतो-मुखी हो। जिसकी प्रत्येक गति, कृति, चेष्टा, क्रिया, विधि—सब कुछ कीर्तिकर हो वही विश्रुतिमान् है। योगसाधक निस्सन्देह विश्रुतिमान् है। उसके जीवन का प्रत्येक पार्श्व कीर्तिकर है।

महत्त्वाकांक्षा का दशवां नाम है अघ्न्या। अघ्न्या का अर्थ है अहन्या, अहननीया, अवध्या। यह जो अन्तर्ध्वनि है, आत्मा की आवाज़ वह अघ्न्या है। उसका कभी कदापि हनन नहीं करना चाहिए। आत्मा की आवाज़ को दबाना आत्महनन है। आत्मध्वनि की अवहेलना करना आत्मघात है। योगसाधक अपने आत्मा की आवाज़ को सुनता है और उसके अनुसार प्रगल्भता के साथ अपनी सार्वभौम साध की संसिद्धि में तत्परता के साथ संलग्न है।

महत्त्वाकांक्षा के दशों नामों को सम्बोधन करता हुआ वह कहता है—"महत्त्वाकांक्षे! तेरे ये दश नाम हैं जिनकी प्रस्थापना मैंने अपने जीवन में की हुई है। साधना-क्षेत्र की सकल दिव्यताओं की सतत प्राप्ति के लिये तू निर्व्यवधानतया अनवरत मेरा मार्गदर्शन करती रह"।

महत्वाकांक्षे! तेरे हैं ये नाम
इडा रन्ता हव्या काम्या चन्द्रा ज्योति
अदिति सरस्वती विश्रुति अघ्न्या।
मुझे बताती रह सुकृत तू
दिव्यताओं के हेतु।

सूक्ति—देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्।
दिव्यताओं की प्राप्ति के लिए मुझे सुसाधना बता॥

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विमृध एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विमृधे॥

[ऋ १०. १५२. ४, य १८/७०, सा १८६८, अ १. २१.२] (य ८/४४)

वि नः इन्द्र मृधः जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
यः अस्मान् अभि-दासति अधरं गमय तमः।
उपयाम-गृहीतः असि इन्द्राय त्वा वि-मृधे एषः ते योनिः इन्द्राय त्वा वि-मृधे।

आकांक्षा जितनी महत् और महत्त्वपूर्ण होती है उसकी पूर्ति के मार्ग में उतनी ही विकट अन्त: और बाह्य आपदायें तथा बाधायें आती हैं। बाह्य आपदाओं पर विजय प्राप्त करना उतना कठिन नहीं होता है जितना कठिन होता है अन्त: बाधाओं पर विजय पाना। बाह्य हिंसाकारियों और आक्रमणकारियों से सावधानतापूर्वक अपना बचाव करना उतना दुस्तर नहीं है जितना दुस्तर है अन्त: हिंसाकारियों और आक्रमणकारियों से अपनी रक्षा करना। योगसाधक की दृष्टि तथा अनुभूति से यह तथ्य ओझल नहीं है। उसकी सार्वभौम आकांक्षा महतो महान् है। उसका साधनापथ असीम और अनन्त है। उसकी साध ध्रुव धैर्य और अविचल निष्ठा की अपेक्षा रखती है। साधनापथ पर अपने आत्मसंबल को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए वह अपने आत्मा को आत्मना सम्बोधन करता रहता है—

१) (इन्द्र) आत्मन्! (न:) हमारे, मेरे और मेरे सहचारियों के (मृध:) हिंसाकारियों को, हिंसक वासनाओं को (वि-जहि) विनष्ट कर, निराकृत करता रह।

महान् से महान् ऋषियों और योगियों के भी मानस में मलिन वासनायें प्रसुप्त रहती हैं। अवसर पाकर वे उभरती हैं। योगीजन इन्द्र की शक्ति से, आत्मसंयम के आश्रय से, उनका शमन करते हैं। "आत्मन्! जब मुझे और मेरे सहचारियों को हिंसक वासनायें सतायें तो तू अपने अनुशासन से उनका शमन कर"।

२) इन्द्र! (पृतन्यत:) सेनेच्छुओं को (नीचा यच्छ) नीचे दबादे, दमन करदे।

वासनाओं की सेनाओं का कोई पारावार नहीं है। समुद्र की लहरों की संख्या से भी अधिक संख्या वासनाओं की सेनाओं की है। "वासनाओं की सेनायें जब हम पर आक्रमण करें तो, हे आत्मशक्ते, तू उनका सद्य: दमन कर"।

३) सकल हिंसाकारियों और आक्रमणकारियों का सेनापति यह तम [अन्धकार, अन्धा पाप] है। तम और पाप पर्यायवाची हैं। जिस प्रकार अन्धकार मनुष्य को अन्धा कर देता है, उसी प्रकार पाप भी बड़े-बड़ों को अन्धा कर देता है। यदि सद्य: आत्मशक्ति का प्रयोग न किया जाए तो पाप सिद्धों को भी उठाकर पटक देता है और उनकी जीवन भर की साधना को धूल में मिला देता है। अत: (इन्द्र) आत्मशक्ते! तू इस (तम:) तम को, मृधों और पृतन्यतों के सेनापति इस पाप को, (य:) जो (अस्मान्) हमें (अभि-दासति) सर्वत: उपक्षय करता है, हमारा विनाश करता है, (अधरं गमय) अधर पहुंचा, अधर उठा लेजा, सर्वथा दूर रख।

४) इन्द्र! तू (उपयाम-गृहीत: असि) पृथिवी-गृहीत है। तेरी साध सार्वभौम है। और (ते एष: योनि:) तेरी यह मानव-योनि (त्वा इन्द्राय विमृधे) तुझे आत्मा और पाप-हिंसन के लिये मिली है, (त्वा इन्द्राय विमृधे) तुझे आत्मसाधना और पापविनाश के लिये मिली है।

इन्द्र,
मृधों को तू विनष्ट कर,
नीचे दबा पृतन्यतों को।
जो हमको हानि पहुंचाता,
उस तम को तू अधर हटादे।
तू है पृथिवीगृहीत,
और तुझे यह तेरी योनि मिली है
इन्द्र और विमृध के लिये,
तुझे मिली है,
इन्द्र और विमृध के लिये॥

सूक्ति—वि न इन्द्र मृधो जहि।
इन्द्र! हिंसाकारियों को विनष्ट करदे॥
नीचा यच्छ पृतन्यत:।
आक्रमणकारियों को दबोच दे॥
अधरं गमया तम:।
पाप को अधर हटा दे॥

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम ।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा ।
उपयामगृहीतो ऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मण एष ते योनिरिन्द्राय
त्वा विश्वकर्मणे ॥

(य ८/४५)

[ऋ १०. ८१. ७, य १७/२३]

वाचः पतिम् विश्व-कर्माणम् ऊतये मनःजुवम् वाजे अद्य हुवेम ।
सः नः विश्वानि हवनानि जोषत् विश्व-शम्भूः अवसे साधु-कर्मा ।
उपयाम-गृहीतः असि इन्द्राय त्वा विश्व-कर्मणे एषः ते योनिः
इन्द्राय त्वा विश्व-कर्मणे ॥

विष्णु-योग का निष्पादक, प्रयति यज्ञ का सम्पादक, आत्मबल से सम्पन्न योगसाधक किसी एक देश का नागरिक होने पर भी सम्पूर्ण पृथिवी का नागरिक है। सारी पृथिवी उसका घर है और समग्र मानव-प्रजा है उसका परिवार। वह भूवासी समस्त मानव-प्रजा को आत्मना प्यार करता है और भूवासी अखिल मानव-प्रजा उसे आत्मना प्यार करती है। प्रत्येक प्रदेश की जीवन-संग्राम में संघर्षरत जनता सुख शान्ति की प्यास से विकल हुई दुःख से त्राण पाने के लिये, उसकी प्रिय प्रभावकारिणी वाणी सुनने के लिये, अपना साधना-पथ प्रशस्त करने के लिये, अपने मनों में नवोत्साह भरने के लिये उसे अपने अपने स्थान में बुलाने की कामना कर रही है—

१) हम (अद्य) आज (वाजे) संग्राम में, जीवन-संग्राम में (ऊतये अवसे) ऊति और अवस् के लिये (वाचःपतिं विश्व-कर्माणं मनःजुवं विश्व-शम्भूः साधु-कर्मा) वाचस्पति, विश्वकर्मा, मनःप्रेरक विश्व-शम्भु साधुकर्मा को (हुवेम) बुलायें।

इस बोधपरक कामना में योगसाधक आध्यात्मिक जननेता के सुलक्षणों का सुष्ठु चित्रण निहित है।

वाचस्पति=वाचःपति=वाणी का स्वामी। अपनी वाणी पर जो संयम रखता है वह वाचस्पति है। एक वा अनेक भाषाओं पर जिसका अधिकार हो वह वाचस्पति है। जनभाषा में जो निष्णात हो वह वाचस्पति है। जनता को अपनी ओर आकर्षित करने की प्रियता जिसकी वाणी में है वह वाचस्पति है। प्रत्येक देश प्रदेश में वहां वहां की भाषा पर पूर्ण अधिकार होना जन-जीवन पर प्रभाव डालने के लिए प्रत्यक्षतः परमावश्यक है। योगसाधक में वाणी की ये समस्त क्षमतायें हैं। वह जिस जिस प्रदेश में जाता है, अविलम्ब वहां वहां की भाषा में सुयोग्यता सम्पादन कर लेता है। उसकी वाणी में प्रियता है, आत्मीयता है, आकर्षण है। उसकी भाषा परिष्कृत है, सर्वगम्य है।

विश्वकर्मा भी वह है। उसके कर्म का क्षेत्र अथवा उसकी साधना की परिधि सारा विश्व है। वह सर्वकर्मा है, कुशलकर्मा है।

वह मनोजुव है। वह मनोवेगी है। उसका अपना स्वयं का मनोबल बड़ा वेगवान् है और इसी लिये वह सर्वजनों के मनों में मनोवेग संचारित करता रहता है।

वह विश्व-शम्भु है। वह विश्व में शम् का भावयिता है। वह विश्व में सुख शान्ति की स्थापना का मार्ग दर्शानेवाला है।

साधुकर्मा भी वह है ही। उसकी सम्पूर्ण साधना प्रत्यक्षतः साधुता से परिपूर्ण है।

अद्य शब्द का प्रयोग वर्तमान काल के लिए हुआ है।

वाज नाम ज्योति, शक्ति और संग्राम का है। ज्योति और शक्ति के संयोग से ही जीवन-संग्राम के प्रत्येक मोर्चे पर विजयश्री की उपलब्धि होती है। प्रत्येक मानव-जीवन और मानव-समाज में देवासुर संग्राम हो रहा है। इस संग्राम में वही व्यक्ति या समाज विजयी होता है जो ज्योति और शक्ति के आश्रय से योगयुक्त होकर आत्मसाधना में रत रहता है।

ऊति नाम रक्षा का है। अवस् का अर्थ है रक्षा, गति, बोध और कान्ति। गति, बोध और कान्ति रक्षा के अमोघ साधन हैं।

कितना सुन्दर है योगसाधक के प्रति यह प्रबोध! "हम आज जीवनसंग्राम में आत्मतत्त्व की रक्षा, गति प्रगति, आत्मबोध व कान्ति के लिये वाचस्पति, विश्वकर्मा, मनोजुव, विश्वशम्भु, साधुकर्मा योग-साधक जननेता का आह्वान करें"।

२) (सः) वह (नः) हमारे (विश्वानि हवनानि) समस्त अर्पणों को (जोषत्) सप्रेम सेवन-स्वीकार करे।

मन्त्र की इस सूक्ति में जनकर्तव्य का सुबोध समवेत है। साधकों की साधें, मिशनरियों के मिशन अतिशय जन-धन-साध्य होते हैं। एतदर्थ असंख्य जनों और अमित धनैश्वर्यों तथा सम्पदाओं की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति तब ही हो पाती है जब जनता योगसाधकों को अपना तन, मन, धन और स्वसर्वस्व समर्पण करती रहती है। कितना तथ्यपूर्ण है यह बोध-वाक्य, "वह हमारे सकल अर्पणों को सप्रेम स्वीकार करे"। वह सर्व अर्पणों को स्वीकार तभी करेगा जब जनता आत्म-निष्ठा के साथ उसके चरणों में सर्वसाधन और जीवन अर्पण करेगी।

आत्म-प्रबोध के उपरान्त अब जनता योग-साधक के सुधन्य जीवन का गुणानुवाद करती है— तू (उपयाम-गृहीतः असि) पृथिवी-गृहीत है। सारी पृथिवी तेरा गृह है और पृथिवी पर निवास करनेवाली सारी प्रजा तेरा अपना परिवार है। धन्य है तेरा जीवन और धन्य है तेरी साध। सचमुच (ते एषः योनिः) तेरा यह जीवन (त्वा) तुझे (इन्द्राय विश्वकर्मणे) इन्द्र विश्वकर्मा के लिए मिला है, (त्वा इन्द्राय विश्वकर्मणे) तुझे आत्मा-आत्मा के लिये सर्वार्थ [सब कुछ करने को मिला है]।

हम अब जीवन के संगर में
अवस् और ऊति के लिये
सदा पुकारें और बुलायें
वाचस्पति विश्वकर्मा को
है जो मनोजुव विश्वशम्भु और साधुकर्मा।
है तू पृथिवी-गृहीत और
तुझे यह तेरी योनि मिली है
इन्द्र विश्वकर्मा के लिए,
तुझे मिली है
इन्द्र विश्वकर्मा के लिए॥

सूक्ति—स नो विश्वानि हवनानि जोषत्।
वह हमारे समस्त अर्पणों को सप्रेम स्वीकार करे॥

विश्वकर्मन्हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम् ।
तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत् ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मण एष ते
योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे ॥

[य १७/२४] [य ८/४६]

विश्व-कर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारम् इन्द्रम् अकृणोः
अवध्यम् । तस्मै विशः सं-अनमन्त पूर्वीः अयं उग्रः
वि-हव्यः यथा असत् । उपयाम-गृहीतः असि इन्द्राय
त्वा विश्व-कर्मणे एषः ते योनिः इन्द्राय त्वा विश्व-कर्मणे ॥

पूर्व मन्त्रानुसार योगसाधक को जनता अपने त्राण और कल्याण के लिये अपने अपने प्रदेश में बुलाना चाह रही थी। अब वह जहां जहां जारहा है वहां वहां उसका जनता द्वारा किस प्रकार स्वागत, सत्कार और स्तवन होरहा है, यह इस मन्त्र में दर्शाया जारहा है—

१) (विश्व-कर्मन्) ! तूने (हविषा वर्धनेन) हवि द्वारा वर्धन से [अपने] (इन्द्रं) आत्मा को (त्रातारं अवध्यं) त्राता और अवध्य (अकृणोः) कर लिया है, बना लिया है।

कितना सुष्ठु और यथार्थ है विश्वकर्मा योग-साधक के प्रति जनता का यह स्वागत-सम्बोधन !

शुद्ध घृत, शुद्ध सामग्री, शुद्ध समिधा—इस त्रित का नाम हवि है। अशुद्ध नहीं, शुद्ध त्रित का नाम हवि है। योगसाधक ने अपने मस्तिष्क की विचार-सामग्री को, अपने हृदय के स्नेहघृत को और अपनी इन्द्रिय-समिधाओं को हवि-रूप बना लिया है, नितान्त पवित्र कर लिया है और इस हविरूपता [पवित्रता] का वह निरन्तर संवर्धन करता रहता है। हवि के इस संवर्धन ने उसके आत्मा को त्राता और अवध्य बना दिया है। त्राता नाम तारक का है। अवध्य नाम अहननीय का है। उसका आत्मा मानव मानव के आत्मा को तारता चला जारहा है। उसने आत्मा की अवध्यता [अविनश्वरता] का साक्षात्कार कर लिया है और आत्मा आत्मा को वह आत्म-अमरत्व का सन्देश देरहा है। आत्मा आत्मा का त्राण करने से भी उसकी अपनी आत्मकीर्ति अवध्य [अमर] होगयी है।

२) (तस्मै) उस [विश्वकर्मा योगसाधक] के लिये (पूर्वीः विशः) पूर्वी प्रजायें, मानव-प्रजायें (सं-अनमन्त) सम्यक् नम गई हैं।

पूर्वीः का अर्थ है सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरि। विशः नाम प्रजाओं का है। मानव-प्रजायें ही पूर्वीः विशः हैं, सर्वोपरि प्रजायें हैं। मानवेतर प्रजायें पशु-प्रजायें हैं। विश्वकर्मा योगसाधक जहां भी जारहा है, वहीं पूर्वीः विशः [मानव प्रजायें] उसके सम्मान में सम्यक् नमन किये रहती हैं।

३) (अयं) यह [विश्वकर्मा योगसाधक] (यथा) यथावत् (उग्रः वि-हव्यः असत्) प्रखर विहव्य होगया है।

हव्य शब्द हवि का पर्यायवाची है। वि-हव्य का अर्थ है वि-हवि से सम्पन्न, समग्र हवियों से सुसम्पन्न। उपर्युक्त तीनों हवियों से यथावत् सुसम्पन्न होने के कारण यहां विश्वकर्मा योग-साधक को विहव्य कहा गया है। वह सर्वहवि-सम्पन्न होगया है। इसी से मानव-प्रजायें उसे सं-नमन कर रही हैं।

वह जहां भी जारहा है, सर्वत्र मानव-प्रजायें संनमनपूर्वक उसका स्वागत करती हैं। वह जब विदा होता है तो मानव-प्रजायें उसकी विदाई पर उसका संस्तवन करती हुई कहती हैं—विश्वकर्मन्! जी नहीं चाहता है कि हम तुझे अपने से जुदा करें। किन्तु हम जानते हैं कि तू (उपयाम-गृहीतः असि) पृथिवी-गृहीत है, तेरी साध सार्वभौम है। तुझे इस पृथिवी पर देश देश और प्रदेश प्रदेश में जाना है। (ते एषः योनिः) तेरा यह जीवन (त्वा) तुझे (इन्द्राय विश्वकर्मणे) इन्द्र विश्वकर्मा के लिये मिला है, (त्वा इन्द्राय विश्वकर्मणे) तुझे आत्मा-आत्मा के लिये सर्वार्थ [सब कुछ करने को] मिला है।

विश्वकर्मन्,
हवि द्वारा वर्धन से तूने,
बना लिया है निज आत्मा को
त्राता और अवध्य।
उसके लिये मनुज-प्रजायें
सम्यक् नमन किया करती हैं
यह होगया प्रखर विहव्य।
है तू पृथिवी-गृहीत और
तुझे यह तेरी योनि मिली है
इन्द्र विश्वकर्मा के लिए,
तुझे मिली है
इन्द्र विश्वकर्मा के लिये

उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा गायत्रच्छन्दसम् गृह्णामीन्द्राय त्वा त्रिष्टुप्छन्दसं गृह्णामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जगच्छन्दसं गृह्णास्यनुष्टुप्ते भिगरः ॥ (य ८/४७)

उपयाम-गृहीतः असि अग्नये त्वा गायत्र-छन्दसम् गृह्णामि
इन्द्राय त्वा त्रिष्टुप्-छन्दसम् गृह्णामि विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः
जगत्-छन्दसम् गृह्णामि अनु-स्तुप् ते अभि-गरः ॥

योगसाधक ने हवि के वर्धन से अपने आपको अवध्य त्राता बना लिया है। वह न केवल जन जन का आत्म-जागरण करता चला जारहा है, अपि च. जैसाकि अगले मन्त्र से प्रकट होगा, वह डूबतों को तारता और पतितों को उबारता चला जारहा है। वह पतित-पावन है। **योगी, सच्चा योगी, वही है जो सज्जनों का निखार और पतितों का उद्धार करता है।** प्यार-भरी चेतनायें और हित-साधिका चेतावनियां दे दे कर वह पतितों को पवित्र करता चला जारहा है, ठीक वैसे ही जैसे मलग [धोबी] मलिन वस्त्रों को। प्रत्येक पतित पाप-पंक से उबर उबर कर योगसाधक से आत्म-निवेदन करता है—

१) तू (उपयाम-गृहीतः असि) पृथिवी-गृहीत है। तू सम्पूर्ण पृथिवी का तारक और उद्धारक है।

२) उपयामगृहीत! मैं (त्वा गायत्र-छन्दसं) तुझ गायत्र-छन्दस को (अग्नये) अग्र-गमन के लिये, आगे बढ़ने के लिए, जीवन-पथ प्रशस्त करने के लिए (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं।

गायत्र-नाम प्राण-रक्षण अथवा जीवन-रक्षण का है। छन्दस का अर्थ है कामना, अभिलाषा, भावना। योगसाधक मानव-जीवन का मूल्य समझता है और मानवमात्र के जीवन का समुत्थान उसकी उत्कट अभिलाषा है। उसके भीतर मानव-जीवन के रक्षण और संसृजन की भावना के साथ साथ मानव और मानवता को आगे बढ़ाने की भावना भी अन्तर्निहित है। वह प्रत्येक पतित को पवित्र बनाने की कामना रखता है। पतित को पवित्र बनाना योगी का चरम लक्ष्य है। इसीलिए उसे यहां गायत्र-छन्दस कहा गया है।

३) उपयामगृहीत ! मैं (त्वा त्रि-स्तुप्-छन्दसं) तुझ त्रि-स्तुप्-छन्दस को (इन्द्राय) आत्मार्थ, आत्म-कल्याणार्थ (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं।

त्रि का अर्थ है तीन। स्तुप् का अर्थ है स्तवन। पतितों को मनसा वाचा कर्मणा—तीनों प्रकार से स्तुत्य बनाने की भावना से भावित होने के कारण योगसाधक को त्रिस्तुप्-छन्दस कहा गया है।

४) उपयामगृहीत। मैं (त्वा जगत्-छन्दसं) तुझ जगत्-छन्दस को (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) समस्त दिव्य-ताओं के लिए, सकल दिव्ताओं से समलंकृत होने के लिए (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं।

जगत् नाम संसार का है। संकुचित भावना से मुक्त और जगत् [सार्वभौम] भावना से युक्त होने के कारण योगसाधक को जगत्-छन्दस कहा गया है। किसी वर्ग विशेष का नहीं, जगत् की सम्पूर्ण मानव-प्रजा का उद्धारक होने से वह जगत्-छन्दस है।

५) उपयामगृहीत ! (अनु-स्तुप्) अनु-स्तुप् (ते) तेरा (अभि-गरः) अभि-गत है।

अनु=पीछे। स्तुप्=स्तवन। मुंह के सामने नहीं, पींठ-पीछे की गयी स्तुति का नाम अनु-स्तुप् है। अभि=सर्वतः, सब ओर। गरः=गति, गमन। योगसाधक जिधर से और जहां से गुज़र जाता है, सभी उसके पीछे उसका स्तवन करते हैं। मुंह देखे की या मुंह के सामने की गई बड़ाई वास्तविक स्तवन नहीं। पींठ-पीछे की गई प्रशंसा ही सच्ची प्रशंसा है। योगसाधक वह है जिसका स्तवन उसके सामने भी होरहा है और उसके चले जाने के बाद भी।

तू है पृथिवी-गृहीत।
मैं तुझ गायत्र-छन्दस को
ग्रहण करता हूं अग्नि के लिये।
मैं तुझ त्रि-स्तुप्-छन्दस को
ग्रहण करता हूं इन्द्र के लिये।
मैं तुझ जगत्-छन्दस को
ग्रहण करता हूं सर्व दिव्यताओं के लिए।
अभिगत तेरा सतत अनु-स्तुप॥

व्रेशीनां त्वा पत्मन्ना धूनोमि
कुकूननानां त्वा पत्मन्ना धूनोमि
भन्दनानां त्वा पत्मन्ना धूनोमि
मदिन्तमानां त्वा पत्मन्ना धूनोमि
मधुन्तमानां त्वा पत्मन्ना धूनोमि
शुक्रं त्वा शुक्र आ धूनोम्यह्नो रूपे सूर्यस्य रश्मिषु ॥ (य ८/४८)

व्रेशीनाम् त्वा पत्मन् आ-धूनोमि
कुकूननानाम् त्वा पत्मन् आ-धूनोमि
भन्दनानाम् त्वा पत्मन् आ-धूनोमि
मदिन्तमानाम् त्वा पत्मन् आ-धूनोमि
मधुन्तमानाम् त्वा पत्मन् आ-धूनोमि
शुक्रम् त्वा शुक्रे आ-धूनोमि
अह्नः रूपे सूर्यस्य रश्मिषु॥

धर्म वह नहीं है जो केवल धर्मात्माओं से सम्पर्क साधता है। धर्मात्मा भी वह नहीं है जो केवल धर्मात्माओं में धर्मप्रचार करता है। सच्चा धर्म और सच्चा धर्मप्रचारक वही है जो पतितों का उद्धार करता है, पतित से पतित को सीने से लगाकर उसे सुपावन और धर्मात्मा बना देता है। प्रयति यज्ञ का सम्पादक, विष्णु योग का निष्पादक, योगसाधक वह पतित-पावन है जो पतित से पतित को आत्मप्रेरणा द्वारा झकझोरता हुआ उसे उबारता चला जारहा है—

१) (पत्मन्) पतित ! मैं (त्वा) तुझे (व्रेशीनां) व्रेशियों के मध्य (आ-धूनोमि) कम्पाता-पछारता-धोता हूं।

व्रेशी नाम निर्मल जलधाराओं का है। जिस प्रकार निर्मल जलधाराओं में मल मल कर स्नान करने से मानव का शरीर निर्मल होजाता है, उसी प्रकार वह पतितपावन वैष्णव योगी अपनी आत्मनिर्मलताओं से पतित पतित को हिला हिला कर, रगड़ रगड़ कर निखारता चला जा रहा है। योग और योगी की महिमा अकथनीय है। योगी वही है जो अपनी निर्मलताओं से मलिनों को मलरहित करके सुपावन बनादे।

२) (पत्मन्) स्खलित ! मैं (त्वा) तुझे (कुकूननानां) कुकूननाओं के मध्य (आधूनोमि) हिलाता-संशोधता हूं।

कुकूनना नाम उन प्यारी प्यारी आत्मध्वनियों का है जो आप्तजनों की चेतानेवाली उपदेशमयी चेतावनियों से पतितों के अन्तःकरणों में उठती हैं। योगसाधक की प्रेरणाप्रद चेतावनियां पतितों को पश्चात्ताप के आंसुओं से रुला देती हैं और उनके हृदयों में आत्मकल्याण की भाव-भरी ध्वनियां ध्वनित कर देती हैं।

३) (पत्मन्) च्युत ! मैं (त्वा) तुझे (भन्दनानां) भन्दनों के मध्य (आ-धूनोमि) विश्लेषता हूं।

भन्दना नाम उन भद्र भावनाओं का है जो पतन के अन्तिम छोर पर पहुंचने के उपरान्त पश्चात्ताप के वेग से पापी के मानस में उमड़ती हैं। वैष्णव योगी के आत्मनेत्र खोलनेवाले विवेकपूर्ण प्रवचनों में वह मांगलिक प्रभाव होता है कि पापी से पापी पतित भी अपनी भावनाओं का विश्लेषण करके अभद्र भावनाओं का परित्याग और भद्र भावनाओं का सत्कार करने लगता है।

४) (पत्मन्) पापिन् ! मैं (त्वा) तुझे (मदिन्तमानां) मदिन्तमाओं के मध्य (आ-धूनोमि) हिलोरता हूं।

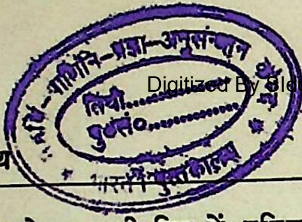
मदिन्तमा नाम उन आनन्दवृत्तियों का है जो मानव को अतिशय प्रहर्षित और सुप्रसन्न रखती हैं। वैष्णव योगी के पथप्रदर्शन में पतित पवित्र हो हो कर आनन्दवृत्तियों से हिलोरित होरहे हैं। योगसाधक पतितों को पवित्र कर कर के उन्हें आनन्दहिलोरों से प्रहर्षित करता है।

५) (पत्मन्) पतित ! मैं (त्वा) तुझे (मधुन्-तमानां) मधुन्तमाओं के मध्य (आ-धूनोमि) हिलाता हूं, हिला हिला कर माधुर्योपेत करता हूं।

मधुन्तमा नाम उन पुण्यमयी मधुरताओं का है जो पाप-पंक से उबरने के उपरान्त उपलब्ध होती हैं। पाप ही पतन का हेतु है। पतन में विषाद और क्लेश से युक्त कटुता होती है। वैष्णव योगी की सत्प्रेरणायें तथा आत्मप्रचेतनायें पतितों को पाप-मुक्त करके उन्हें अतिशय मधुर पुण्यमयी मधुरताओं से माधुर्योपेत कर देती हैं।

६) पतित ! मैं (त्वा) तुझे (शुक्रे) पवित्रता में (अह्नः रूपे) दिन के रूप में, (सूर्यस्य रश्मिषु) सूर्य की रश्मियों में (शुक्रं आ-धूनोमि) धुनकर पवित्र करता हूं।

धुनेरा जिस प्रकार रुई को धुनकर उसे नितान्त निर्मल कर देता है, उसी प्रकार वैष्णव योगी ज्ञान-सूर्य की किरणों से रश्मित करके पतितों की



अज्ञानरूपी रात्रि को ज्ञानरूपी दिन में परिणत कर देता है और उनकी मलिनताओं का निवारण करके उन्हें पवित्र पवित्रता में प्रतिष्ठित कर देता है।

पतित, तुझे धुनता हूं
त्रेशियों के मध्य में।
पतित, तुझे धुनता हूं
कुक्ननाओं के मध्य में।
पतित, तुझे धुनता हूं
भद्र भावनाओं के मध्य में।
पतित, तुझे धुनता हूं
आनन्दवृत्तियों के मध्य में।
पतित, तुझे धुनता हूं
मधुरिमाओं के मध्य में।
धुनता हूं मैं
तुझे शुक्र में,
दिन के रूप में,
और सूर्य की किरणों में॥

ककुभं रूपं वृषभस्य रोचते बृहच्छुक्रः शुक्रस्य पुरोगाः
सोमः सोमस्य पुरोगाः। यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै
त्वा गृह्णामि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा॥ (य ८/४९)

ककुभम् रूपम् वृषभस्य रोचते बृहत् शुक्रः शुक्रस्य पुरःगाः
सोमः सोमस्य पुरःगाः। यत् ते सोम अदाभ्यम् नाम जागृवि तस्मै
त्वा गृह्णामि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा॥

पतित जन पवित्र हो हो कर अपने उद्धारकर्ता योगसाधक का स्तवन करते हुए उसके प्रति आत्म-समर्पण कर रहे हैं—

१) (वृषभस्य) वृषभ का (ककुभं रूपं) दिग्व्यापी रूप, विश्वव्यापी सौन्दर्य (बृहत्) महान्, बहुत (रोचते) प्रकाशता है, जगमगा रहा है।

योगसाधक के लिये यहां वृषभ शब्द का प्रयोग किया गया है। वृषभ का अर्थ है वृष्टि करनेवाला, बरसानेवाला, मेघ। मेघ निर्मल जल की वृष्टि करके सबको निर्मल और सुसोम्य बनाकर हरा भरा कर देता है। योगसाधक वह वृषभ है जो अपनी पावमानी पवित्रता से पतितों को पवित्र, क्रूरों को सुसोम्य और निकृष्टों को श्रेष्ठ बनाता हुआ मानव-जीवनों को निखारता, संवारता और हरियाता चला जारहा है। उसके जीवन का सौन्दर्य सारी पृथिवी पर दिशा-प्रदिशाओं में सर्वत्र सब ओर प्रचुरता के साथ व्याप रहा है।

२) (शुक्रः) पवित्र तू (शुक्रस्य) पवित्रता का (पुरःगाः) पुरोगामी है, आगे चलनेवाला है।

योगसाधक जनोद्धारक जननेता जहां भी जाता है उसके पीछे पीछे पवित्रता व्यापती है। वह जहां से जाता है अपने पीछे व्याप्त पवित्रता छोड़ जाता है।

३) (सोमः) सोम, सोम्य, तू (सोमस्य पुरःगाः) सोम का पुरोगामी है, सोम्यता का पुरोगामी है।

वह जहां भी जाता है, उसके पीछे पीछे सोम [चन्द्र] की सी सोम्यता आती है। वह जहां से जाता है, अपने पीछे सोम्यता छोड़ जाता है।

४) (सोम) ! (यत्) यतः, क्योंकि (ते नाम) तेरा नाम, तेरा आदर, तेरा यश (अदाभ्यं) अदम्य है और तू (जागृवि) जागरूक है, मैं (तस्मै) उसके लिए (त्वा) तुझे (गृह्णामि) स्वीकार करता हूं।

उसका नाम अदम्य है। उसका यश दबाये नहीं दब रहा है। हृदय से उसका आदर होरहा है। वह जागृवि है। उसकी जागरूकता, उसकी साव-धानता उसके नाम और काम की, उसके यश और आदर की, उसकी नमनीयता और साधना की सुरक्षा कर रही है। इसीलिये जन जन उसके गुरुत्व और नेतृत्व को स्वीकार कर रहा है।

५) (सोम) ! मैं (ते तस्मै सोमाय) तेरे उस सोम के लिए, तेरी उस सोम्यता के प्रति (स्वाहा) सुहुत होता हूं, अपने आपको समर्पित करता हूं।

सोम्यता को ही समर्पण होता है। सोम के पारखी सोम्यता को परखते हैं और उसपर सुहुत होजाते हैं। भौंरे ही फूल पर मुग्ध होते हैं, गन्दे कीड़े नहीं। परवाने ही ज्योति पर क़ुर्बान होते हैं, उलूक [उल्लू] नहीं। धन्य है योगसाधक जनोद्धारक जननेता और धन्य है उसको समर्पित होनेवाला समर्पक !

जो जिसपर मुग्ध होता है समर्पित उसको होता है।
गुणों को जो परखता है गुणी पर मुग्ध होता है।।

सौन्दर्य दिग्व्यापी वृषभ का
प्रचुरता से दमक रहा है।
पावन तू पुरोगामी पावनता का,
सोम तू पुरोगामी सोम का।
सोम ! यतः तव नाम अदम्य है,
और स्वयं तू सतत जागृवि,
उसी लिए ग्रहण करता हूं मैं तुझे।
सोम ! तेरे उस सोम के लिये
होता हूं मैं सुहुत समर्पित ॥

सूक्ति—ककुभं रूपं वृषभस्य रोचते।
दिग्व्यापी सौन्दर्य वृषभ का दमक रहा है।

उशिक्त्वं देव सोमाग्नेः प्रियं पाथोऽपीहि वशी त्वं देव
सोमेन्द्रस्य प्रियं पाथोऽपीह्यस्मत्सखा त्वं देव सोम
विश्वेषां देवानां प्रियं पाथोऽपीहि ।। (य ८/५०)

उशिक् त्वम् देव सोम अग्नेः प्रियं पाथः अपि-इहि वशी त्वम् देव
सोम इन्द्रस्य प्रियं पाथः अपि-इहि अस्मत-सखा त्वम्देव सोम
विश्वेषाम् देवानाम् प्रियं पाथः अपि-इहि ।।

पतित-पावन योगसाधक पतितों को तथा धर्मात्माओं को, सभी को जीवन-धन और आत्म-वैभव से निहाल करके जब विदा होता है तो सम्पूर्ण जनता उसके लिए शुभ कामना करती हुई कहती है—

१) (देव सोम) ! (उशिक् त्वं) उशिक् तू (अग्नेः प्रियं पाथः) अग्नि के प्रिय पाथ को (अपि-इहि) प्राप्त रह।

उशिक् का अर्थ है कामयमान, कमनीय, प्रेममय। जो सबको प्यार करे, जिसे सब प्यार करें, जो सबको चाहे, जिसे सब चाहें, वह उशिक् है।

पाथ= पा+थ। पा का अर्थ है रक्षा करना। थ का अर्थ है थर्वण अथवा गति। सुरक्षापूर्वक जिस पथ पर गमन प्रगमन किया जाये उसे पाथ कहते हैं। वेद का यह पाथ शब्द अंग्रेजी में ज्यों का त्यों इसी अर्थ में प्रयुक्त होरहा है।

अग्नि शब्द का प्रयोग यहां सर्वव्यापक, सर्वप्रकाशक, परम पावक प्रभु के लिये हुआ है।

चन्द्रमा के समान दिव्य सोम्यता तथा चन्द्रिका से उपेत होने से योगसाधक को यहां **देव सोम** शब्दों से सम्बोधन किया गया है।

"देव सोम ! उशिक् तू ब्रह्माग्नि के प्रिय पाथ को सम्प्राप्त रह। तू सदैव ब्रह्माग्नि के सुरक्षित पथ पर चलता रह। प्रभु तेरा रक्षक हो"। कितनी सुन्दर कामना का व्यक्तिकरण है यह !

२) (देव सोम) ! (वशी त्वं) वशी तू (इन्द्रस्य प्रियं पाथः अपि-इहि) आत्मा के प्रिय पाथ को प्राप्त रह।

वशी का अर्थ है वश में करनेवाला। किसको ? अपनी इन्द्रियों को और जन जन के हृदयों को। इसीसे वशी का अर्थ है जितेन्द्रिय और मोहक। जो जितेन्द्रिय होता है, जिसकी इन्द्रियां अनुशासित

होती हैं वही मानव मानव के हृदय को मोह पाता है। जितेन्द्रियता ही आत्मा का वह प्रिय पाथ है जिसपर चलकर योगसाधक विश्व को मोह रहा है।

"देव सोम ! वशी तू सदा आत्मा के प्रिय पाथ पर आरूढ़ रह" कैसा सुन्दर विदाई-वाक्य है यह !

३) (देव सोम) ! (अस्मत्-सखा त्वं) अस्मत्-सखा तू (विश्वेषां देवानां प्रियं पाथः अपि-इहि) सब देवों के प्रिय पाथ को प्राप्त रह।

अस्मत्-सखा=वयं सखायो यस्य सः, हम सखा हैं जिसके वह। हम जिसके सखा हैं वह हमारा सखा है।

सूर्य, चन्द्र, अग्नि, जल, पवन, पृथिवी आदि समस्त देवों का पाथ क्या है ? परोपकार।

"देव सोम ! हम तेरे सखा हैं। तू हमारा सखा है। परोपकार-पतितोद्धार-सर्वजनसुधार तेरी साध है। सब प्राकृत देव जिस-प्रकार परोपकाररत हैं, उसी प्रकार तू सतत परोपकाररत रह"।

देव सोम ! तू उशिक् प्राप्त रह
ब्रह्माग्नि के प्रिय पाथ को।
देव सोम ! तू वशी प्राप्त रह
स्वात्मा के प्रिय पाथ को।
देव सोम ! अस्मत्सखा तू
प्राप्त रह सब देवों के प्रिय पाथ को॥

इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा।
उपसृजन्धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन्
रायस्पोषमस्मासु दीधरत्स्वाहा॥ (य ८/५१)

इह रतिः इह रमध्वम् इह धृतिः इह स्व-धृतिः स्वाहा।
उप-सृजन् धरुणम् मात्रे धरुणः मातरम् धयन्।
रायः पोषम् अस्मासु दीधरत् स्वाहा॥

वियोग-विषाद में जनता योगसाधक के प्रति जगत् के मिथ्यात्व और संसार की निस्सारता की बातें करने लगती है। योगसाधक उन्हें यथार्थ तत्त्व समझता है—देवो और देवियो ! (इह)यहां, इस संसार में (रतिः) रति है, (इह) यहां, (रमध्वम्) रमण करो।

रमु क्रीडायाम्। रम् धातु, जिससे रति शब्द निर्मित हुआ है, का अर्थ है क्रीडा करना, खेलना। वैराग्य और विषाद नपुंसकता अथवा पराजित वृत्ति के द्योतक हैं। वेद की शिक्षायें पुंसक और विजयप्रद हैं। वेद की विज्ञानमय तत्त्वदृष्टि में न संसार असार है, न जगत् मिथ्या है, अपि तु संसार ससार है, जगत् सत्य है और सृष्टि स्रष्टा को एक वास्तविकता है। यहां स्वप्न निरर्थक वस्तु नहीं है, सार्थक साधना है। वैदिक वाङ्मय में स्वप्न का अर्थ है सु-अप्न। सु का अर्थ है शुभ, श्रेष्ठ, सुन्दर। अप्न का अर्थ है कर्म, रूप। स्वप्न का वैदिक अर्थ है सुकर्म, सुरूप।

"इस संसार में विषाद और वैराग्य का क्या काम। यह संसार तो क्रीडास्थल है, रोचकतापूर्ण आनन्दधाम है। तुम सब यहां रमण करो। संसार में सर्वत्र सुरुचिपूर्वक इसके सुरस का आस्वादन करो। इसके रूप सौन्दर्य का अवलोकन करो। यह संसार कर्मक्षेत्र है, इसमें सुकर्म करो। यह तो धर्मक्षेत्र है, इसमें धर्म का सम्पादन करो"।

इह रतिरिह रमध्वम्-योगसाधक के मुख से इस शिक्षामय सूक्ति को सुनकर विरह-विषाद से पीड़ित जनता पुकार उठती है—यहां तो बहुत कष्ट हैं, बहुत कठिनाइयां हैं, बहुत आपत्तियां हैं।

निस्सन्देह संसार में कठिनाइयां हैं और आपत्तियां भी। छोटे से छोटे, साधारण से साधारण और महान् से महान् व्यक्तियों को

समानरूपेण सदा से कठिनाइयों और आपत्तियों से जूझना पड़ा है। किन्तु कठिनाइयों और आपत्तियों का रोना रोनेवाले यह भूल जाते हैं कि धृति और स्वधृति के आश्रय से कठिनाइयों और आपत्तियों का मुक़ाबला तथा समाधान करने से ही पुरुष महा-पुरुष बनता है और नारी महा-नारी का पद प्राप्त करती है।

तत्त्वबोध से प्रबुद्ध योगसाधक समझा रहा है—"लोगो! कठिनाइयां और आपत्तियां तो उत्कर्ष का सोपान हैं। जो जितनी अधिक कठिनाइयों और आपत्तियों का मुक़ाबला करते हैं वे उतने ही महान् और उच्च होते हैं। अतः तुम (इह) यहां, इस संघर्षमय संसार में (धृतिः) धृति, (इह) यहां, इस युद्धक्षेत्र में (स्व-धृतिः) आत्म-धृति [के आश्रय से] (स्वाहा) स्व-आहा, आत्म-आह्लाद, आत्म-आनन्द [से युक्त रहते हुए यहां रमण करो]

धृत नाम धारण, स्थिति, स्थैर्य और धैर्य का है। स्वधृति का अर्थ है स्व [आत्म] + धृति [स्थिति, अवस्थिति]। जीवन-स्थिति और आत्म-अवस्थिति, ध्रुव धैर्य और आत्म स्थैर्य—ये ही दो पतवार हैं जीवन-नौका को कठिनाइयों और आपत्तियों के भंवरों में से आनन्दपूर्वक पार करने के लिए। संसार के द्वन्द्वों में रमणीयता की धारणा तथा आनन्द की आत्मधारणा के साथ संघर्ष करते हुए जीवनपथ पर अग्रसर रहने से कठिनाइयां और आपत्तियां मानव के जौहर को जगाती हैं और प्रति क्षण उसे हंसाती हैं।

धृति, स्वधृति और स्वाहा [आत्मानन्द] के संस्कारों की स्थापना मानवसमाज में किस प्रकार हो, इस जन-जिज्ञासा के समाधान में योगसाधक कहता है—(धरुणः) धर्ता, गर्भ-स्थापनकर्ता, पति (मात्रे) माता [मातृत्व की कामना करनेवाली पत्नी] के लिए (धरुणं) धर्तव्य, धरणीय, गर्भ को (उप-सृजन्) स्थापन करता हुआ (रायः पोषं दीधरत्) आत्मैश्वर्य की पुष्टि स्थापन करे, जन्मनेवाला शिशु (मातरं धयन्) माता को पीता हुआ (रायः पोषं दीधरत्) आत्मैश्वर्य की पुष्टि स्थापन करे तो (अस्मासु) हममें, हम सबमें, हम मानवों में, हमारे मानवसमाज में (स्वाहा) आत्मानन्द, आत्म-अवस्थिति, आत्मस्थैर्य [के संस्कार समंकित हो जायें]।

सन्तति-विज्ञान के यहां दो गहन महासूत्र हैं।

गर्भ-स्थापन का क्षण एक निर्णयकारी क्षण है। गर्भ-स्थापना के समय पिता की भावना जैसी होती है, गर्भस्थ शिशु के जीवन के मूल में वैसे ही संस्कार समंकित होजाते हैं। उन्हीं मूल-संस्कारों से संस्कृत रहता हुआ गर्भ-पिण्ड बनता और बढ़ता रहता है। जिस भावना से पिता ने बीज-वपन किया है और माता ने भूमिवत् बीज ग्रहण किया है, वैसे ही संस्कारों से युक्त हुआ बीज अंकुरित और परिवर्धित होता है। गर्भस्थापन या बीजवपन करते हुए यदि भावी सन्तान का पिता धृति, स्वधृति और स्वाहा की भावना करता है अपि च आत्मैश्वर्य की पुष्टि से युक्त सन्तान की कामना करता है तो निश्चय ही सन्तान धृति, स्वधृति, स्वाहा और आत्मसम्पुष्टि के संस्कारों से मूलतः सुसंस्कृत होजाती है। सुसंस्कार ही मानव-सन्तान को और परिणामतः मानव-समाज को सुसंस्कृत बनाते हैं।

गर्भ-स्थिति के क्षण से ही गर्भ [गर्भस्थ शिशु] माता [गर्भिणी] को पीना आरम्भ कर देता है। माता के गर्भ में स्थित रहता हुआ शिशु दश चन्द्र मास [सौर मास के नौ महीने और दश दिन] तक गर्भिणी के रसों का पान करता हुआ और माता के शरीरस्थ रसों से सिंचित होता हुआ बढ़ता है और जन्मने पर भी वह माता के शरीर के रसों से सुसिंचित होता है। दांतों के निकल आने पर जब वह माता के स्तनों का पान बन्द करता है और

खाद्य पदार्थों का सेवन करने लगता है तब वह माता के शरीर के रसों का पान बन्द करता है।

गर्भ में और गर्भ से बाहर माता के रसों के पान का जो समय है वह भी संस्कारों के समंकन की दृष्टि से अतिशय निर्णयकारी समय है। शिशु के इस रसपान काल में यदि उसकी माता अपने चौबीसों घण्टे के व्यवहार में धृति, स्वधृति और स्वाहा की भावना से भावित रहती है और बलवान् तथा आत्मैश्वर्य से युक्त सन्तान की कामना करती है तो निश्चय ही सन्तान धृति, स्वधृति, स्वाहा और आत्मसम्पुष्टि के संस्कारों से सर्वतः सुसंस्कृत होजाती है अपि च जीवन-भर उन्हीं संस्कारों के आधार पर विकसित होती रहती है।

यहां रति है,
रमण करो यहां।
यहां धृति हो,
यहां स्वधृति,
यहां हो स्वाहा।
धर्त्ता माता के लिये
गर्भ-स्थापन करता हुआ,
शिशु माता को पीता हुआ,
हममें करे स्थापन पुष्टि
आत्मैश्वर्य की,
तो होजायें समंकित सबमें
आत्म-अवस्थिति के संस्कार॥

सूक्ति—इह रतिरिह रमध्वम्।
यहां आनन्द है, यहां रमण करो॥
इह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा।
यहां धैर्य हो, यहां आत्मधारण और आत्म-अवस्थिति हो॥

सत्रस्य रिद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृता अभूम।
दिवं पृथिव्या अध्यारुहामाविदाम देवान्त्स्वर्ज्योतिः॥ (य ८/५२)

सत्रस्य ऋद्धिः असिः अगन्म ज्योतिः अमृताः अभूम।
दिवम् पृथिव्याः अधि आ-अरुहाम अविदाम देवान् स्वः ज्योतिः॥

योगसाधक के जीवनप्रद उपदेश से उद्बुद्ध और उसके ज्योतिर्दान से ज्योतित तथा जागृत जनता विदाई-अभिनन्दन करती हुई सहसा कह उठती है—योगिन्! तू (सत्रस्य ऋद्धिः असिः) सत्र की सिद्धि है।

सत्र नाम अविराम संचालित दीर्घकालीन यज्ञ का है। मानव-जीवन दीर्घ सत्र है। मानव-जीवन की अपेक्षा परिवार दीर्घतर सत्र है। परिवार की अपेक्षा समाज और भी दीर्घतर सत्र है। समाज की अपेक्षा राष्ट्र उससे भी कहीं अधिक दीर्घतर सत्र है। और विश्व तो दीर्घतम सत्र है ही। पांच ही सत्र हैं—व्यक्ति-सत्र, परिवार-सत्र, समाज-सत्र, राष्ट्र-सत्र, विश्व-सत्र।

एक विष्णु-स्थ, आध्यात्मिक, धर्मपरायण सत्यनिष्ठ वैदिक योगसाधक जननेता ही है जिसे विश्व की जनता द्वारा सर्वत्र सम्बोधन करते हुए कहा जाता है—

१) तू (सत्रस्य ऋद्धिः असिः) सत्र की ऋद्धि है। तू पञ्च-सत्र का सफल याजक है।
२) तेरे जीवन से हमने (ज्योतिः अगन्म) ज्योति प्राप्त की है।
३) तेरे सम्पर्क से हम (अमृताः अभूम) अमृत होगये हैं। हम विकार-विष से मुक्त होकर निर्विष होगये हैं।
४) तेरी उत्प्रेरणा से हम (पृथिव्याः दिवं अधि आ-अरुहाम) पृथिवी से द्यौ पर चढ़ गये हैं। हम पार्थिव भोगों से ऊपर उठकर दिव्य दिव्यता में संस्थित होगए हैं।
५) तेरे संस्पर्श से हमने (देवान् स्वः ज्योतिः) दिव्यतायें, आनन्द और ज्योति (अविदाम) सम्पादन की हैं।

योगस्थ वैदिक जननेता ही है जिसके सत्र-नयन में विश्व की प्रजा अन्धकार से निकलकर ज्योति में प्रवेश करती है, भोगविष से रिक्त होकर योगामृत से प्रपूरित होती है, जीवन की पार्थिव नीचाइयों से ऊपर उठकर देव की दैवी ऊंचाई पर चढ़ जाती है, दिव्यताओं से विभूषित होकर आनन्द ज्योति का आस्वादन करती है।

तू सत्र की संसिद्धि है,
हमने ज्योति सम्प्राप्त की,
हम अमृत होगये,
हम पृथिवी से चढ़े द्यौ पर,
हमने कीं सम्प्राप्त
दिव्यतायें, आनन्द और ज्योति ॥

सूक्ति—सत्रस्य ऋद्धिरसि।
तू सत्र की संसिद्धि है ।।
दिवं पृथिव्या अध्यारुहाम।
हम पार्थिवता से दिव्यता पर चढ़ गये हैं ।।
अविदाम देवान्त्स्वर्ज्योतिः।
हमने सम्पादन की हैं दिव्यतायें,
आनन्द और ज्योति ।।

युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तंतमिद्धतं
वज्रेण तंतमिद्धतम्। दूरे चत्ताय छन्त्सद्गहनं यदिनक्षत्।
अस्माकं शत्रून्परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वतः। भूर्भुवः स्वः
सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम सुवीरा वीरैः सुपोषाः पोषैः ॥
[ऋ १. १३२-६] (य ८/५३)

युवम् तम् इन्द्रापर्वता पुरःयुधा यः नः पृतन्यात् अप तम्-तम्
इत् हतम् वज्रेण तम्-तम् इत् हतम्। दूरे चत्ताय छन्त्सत् गहनम् यत्
इनक्षत्। अस्माकम् शत्रून् परि शूर विश्वतः दर्मा दर्षीष्ट विश्वतः। भूःभुवःस्वः
सु-प्रजाः प्रजाभिः स्याम सु-वीराः वीरैः सु-पोषाः पोषैः ॥

सर्वत्र अभिनन्दित होता हुआ विष्णु के पद का प्रकाशक योगसाधक जनसमूह-जनसमूह को सत्र की संसिद्धि के रहस्य का उद्घाटन करता है—

१) (पुरःयुधा इन्द्रापर्वता) साक्षात् युद्ध करनेवाले इन्द्र और पर्वत ! (युवं) तुम दोनों (वज्रेण) वज्र से, वर्जन सामर्थ्य से (तं) उसको, (तं तं इत्) उस उस को ही (अप-हतम्) मार भगाओ, (तं तं हतं इत्) उस उस को मारो ही, (यः) जो (नः) हमें, हमारे प्रति, हम मानवों पर, हम मानव-समूहों पर (पृतन्यात्) सेना चढ़ाये, ससैन्य आक्रमण करे।

इन्द्र है इन्द्रियों का स्वामी आत्मा और पर्वत है पर्ववत् [पर्ववान्] मानव-देह। इन्द्र और पर्वत अथवा आत्मा और देह दोनों के संयोग से मानव-जीवन बनता है। मानव-जीवन साक्षात् युद्धमय है। आत्मा और शरीर दोनों मिलकर निरन्तर युद्ध करते हैं। किससे ? पाप पापी से, रोग मृत्यु से। किस लिये ? धर्म की रक्षा और अमरत्व की प्राप्ति के लिये।

पाप की सेना का पार नहीं है। पापजन्य विकार-वासनाओं की सेना की न कोई गणना कर पाया है न कर पायेगा। यह पापी पाप सिद्धों और असिद्धों पर, सब पर अपनी सेनाओं से आक्रमण करता रहता है। मानव को चाहिए कि इन्द्रियसमूह अपनी देह तथा आत्मा के संयुक्त प्रहार से, अपने वज्र से, अपनी सम्पूर्ण वर्जनशक्ति से, वह पाप की सेना का तत्क्षण संहार करता रहे। अन्यथा पाप-सेना अपनी जड़ गहरी जमा लेती है। आत्मा की जो निज वर्जन-शक्ति है, जो दुरित-निराकरण की

अमोघ सामर्थ्य है, जो प्रबल इच्छाशक्ति है, वही वह अटूट अखण्ड शस्त्र है जिससे वह पाप की सेना का यथावत् हनन कर सकता है। इसी का नाम आत्मसंग्राम है। इन्द्रो जयाति न परा जयाता। इन्द्र सदैव विजयी होता है, कभी पराजित नहीं होता है। इन्द्र-वज्र ही वह वज्र है, आत्म-अस्त्र ही वह अस्त्र है जो पाप की प्रत्येक सेना और पाप के प्रत्येक आक्रमण को परास्त करता है। आत्मा अधिराज है, देहेन्द्रियां सेना है, आत्मा की वर्जन-शक्ति युद्धायुध है, सतत साधना संग्राम है।

२) पाप (यत् गहनम् इनक्षत्) यदि गहरा व्याप जाये, तो (चत्ताय) आत्माह्लाद के लिये [मानव उसे] (दूरे छन्त्सत्) दूर [देश] में धकेल देवे।

पाप तीन प्रकार से सेवन किया जाता है—मनसा, वाचा, कर्मणा। पाप के सेवन से पाप रोम रोम में, कण कण में, अन्तरतम में गहनता के साथ व्याप जाता है। पाप के सेवन में सुख की प्रतीति होती है, किन्तु परिणाम में घोर मनस्ताप तथा आत्म-विषाद पल्ले पड़ता है। पाप के सेवन में जितने सुख की प्रतीति होती है, उसके त्याग में उससे कहीं अधिक आत्माह्लाद अथवा आत्मानन्द की उपलब्धि होती है। वास्तविक आनन्द भोगों के सेवन में नहीं है, उनके त्याग में है।

३) (शूर)! (अस्माकं शत्रून्) हमारे शत्रुओं को, हम मानवों के शत्रुओं को, सर्वमानवों के शत्रुओं को (विश्वतः) सर्वतः, सब प्रकार से (परि) सब ओर (दर्मा) विदीर्णता हुआ, विदीर्ण करता हुआ (विश्वतः) सर्वतः, सब प्रकार से (दर्षीष्ट) दीर्ण कर, चूर चूर कर।

शूर वह नहीं है जो शत्रुओं से परास्त होजाये। शूर वही है जो शत्रुओं को दीर्ण विदीर्ण करदे। शत्रुञ्जय वह नहीं है जो मानव के और मानवता के शत्रुओं से सन्धि करता है। शत्रञ्जय वही है जो मानव के और मानवता के शत्रुओं को सब प्रकार से निरुपाय करके सब दिशाओं से उनका नितान्त निराकरण करता है।

समस्त दुरित और सारी बुराइयां पाप की सन्तान हैं। वे सब सर्वमानवों के और मानवता के महा बली शत्रु हैं। शूर मानव वही है जो उन विकार वासना आदि महाशत्रुओं का सब दिशाओं में सब ओर और सब प्रकार से हनन करता है।

४) योगसाधक को अपनी सार्वभौम साध की संसिद्धि के लिए ऐसे ही प्रजीवी शूरों की आवश्यकता है। इसी अनुभूति के साथ वह परम पावन विष्णु से प्रार्थना करता है—(भूःभुवःस्वः) सत् चित् आनन्द! सच्चिदानन्द! हम सब (प्रजाभिः सुप्रजाः) प्रजाओं से सुप्रजाओंवाले, (वीरैः सुवीराः) वीरों से सुवीरोंवाले, (पोषैः सुपोषाः) पुष्टियों से सुपुष्टियोंवाले (स्याम) हों, रहें।

पुरोयुद्ध देह और इन्द्र!
तुम दोनों अपने सुवज्र से
उसको उस उस को ही मारो,
मारो ही उस उस को कि जो
करे आक्रमण हमपर।
व्याप जाये यदि वह गहन में
उसको दूर धकेलो
आत्म-आह्लाद के लिए।
शूर! हमारे शत्रुओं को,
सब प्रकार से और सर्वतः,
करता हुआ दीर्ण सर्वतः,
दीर्ण विदीर्ण विचूर्ण तू करदे।
सच्चिदानन्द! रहें सदा हम
प्रजाओं से सुप्रजाओंवाले,
वीरों से सुवीरोंवाले
पुष्टियों से सुपुष्टियोंवाले

सूक्ति—भूर्भुवःस्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम।
सच्चिदानन्द! हम प्रजाओं से सुप्रजाओं वाले हों॥

परमेष्ठ्यभिधीतः प्रजापतिर्वाचि व्याहृतायामन्धो अच्छेतः ।
सविता सन्यां विश्वकर्मा दीक्षायां पूषा सोमक्रयण्याम् ॥
(य ८/५४)

परमे-स्थी अभि-धीतः प्रजाः-पतिः वाचि वि-आहृतायाम् अन्धः अच्छ-इतः ।
सविता सन्याम विश्व-कर्मा दीक्षायाम पूषा सोम-क्रयण्याम् ॥

योगसाधक पञ्चसत्र का सफल संसिद्ध साधक है । उसके जीवन से मानव-प्रजा को ज्योति सम्प्राप्त होरही है । उसके सम्पर्क से मानव-जाति अमृत [निर्विष] बनती चली जारही है । उसकी उत्प्रेरणा से मानव पार्थिव भोगों से ऊपर उठकर दैवी स्थिति में स्थित होरहे हैं । उसके स्पर्श से प्रजा को आनन्द और ज्योति की उपलब्धि होरही है । वह सर्वत्र पाप के उन्मूलन और धर्म की स्थापना की उत्प्रेरणा करता चला जारहा है । वह अन्तःशत्रुओं को दीर्ण चूर्ण करने की शिक्षा कर रहा है । वह वीर सुपुष्ट प्रजाओं का निर्माण कर रहा है ।

कहां से आया और आरहा है उसमें इतना संबल, इतना तेज, इतना प्रभाव, इतनी विश्वकर्मता और इतना सुपोष ? इसी रहस्य का उद्घाटन करती हुई वेदमाता कहती है—

१) (प्रजापतिः) प्रजा-पति, प्रजाओं का स्वामी, अखिलेश विष्णु (अभि-धीतः) अभिधीत हुआ (परमे-स्थी) परम में स्थित [करता है] ।

अभिधीतः का अर्थ है सर्वतः ध्यात, सम्पूर्णतः ध्यान में धारित । प्रजापति विष्णु को जो सतत ध्याता है, विष्णु उसे अपनी परम स्थिति में संस्थित रखता है । ध्यान से धारण होता है । जो जिसका ध्यान करता है वह वही होजाता है, उसी के गुणों से युक्त और उसी की शक्तियों से सशक्त होजाता है । योगसाधक ने ध्यान-समाधि द्वारा प्रजापति विष्णु को अपने जीवन में धारित किया हुआ है, अपने देह और देही को विष्णु से युक्त संयुक्त किया हुआ है । उसके जीवन में ब्राह्म दिव्यताओं और ब्राह्म शक्तियों का सतत संचार होता रहता है । इसीसे वह इतनी गहन और व्यापक संसाधना करता चला आरहा है ।

२) प्रजापति से युक्त संयुक्त रहने से योगी की (वि-आहृतायां वाचि) वि-आहृता वाणी में (अच्छ-इतः) सम्यक्-प्रेरित (अन्धः) अन्धस् [स्थापित होजाता है] ।

वि-आहृता वाक् नाम उस वाणी का है जो श्रोताओं को आकर्षित करती है, जो सुननेवालों के हृदयों को खींचती [अपील करती] है ।

अन्धस् नाम अन्न, प्राण और सोम का है । अन्न देह का सुख है । प्राण मन का ओज है । सोम आत्मा का आनन्द है । प्रजापति में समाहित योगी की वाणी में शारीरिक सुख, मानसिक ओज और आत्मिक आनन्द का सुप्रेरित अन्धस् निहित होता है । उसकी वाणी का एक एक शब्द आहृत-आकर्षित करने वाला होता है ।

प्रजापति में समाहि रहने से योगसाधक की व्याहृत वाणी में सम्यक् प्रेरणा करनेवाले अन्धस् का संचार है । इसीलिये उसकी वाणी से सर्वत्र सत्य ज्ञान का प्रभावशाली प्रकाशन होरहा है ।

३) प्रजापति से संगत रहने से योगी (सन्यां) संविभाग में, संवितरण में (सविता) सूर्य बन जाता है ।

प्रकाश सूर्य की सम्पदा है । वह अपनी प्रकाश-सम्पदा का अनवरत वितरण करता रहता है ।

योगसाधक प्रजापति से प्राप्त ब्राह्मी सम्पदाओं और योगैश्वर्यों का सर्वत्र सतत वितरण करता चला जारहा है ।

४) प्रजापति में समाहित रहने से योगी (दीक्षायां विश्व-कर्मा) दीक्षा में विश्वकर्मा [बना रहता है] ।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति। व्रत धारण करने से मानव दीक्षा को प्राप्त होता है। व्रत धारण करने कराने का नाम दीक्षा है। योगस्थ व्रती दीक्षा में विश्व-कर्मत्व [दक्षता, व्याप्ति] प्राप्त करता है।

योगसाधक व्रतदीक्षित है। विष्णु में समाहित हुआ, वैष्णव सम्पत्तियों से सम्पन्न होकर वह दक्षता के साथ अपने सुपावन व्रतों की सफल साधना कर रहा है और सर्वमानवों को योगदीक्षित करता चला जारहा है। वैदिक योगी की महिमा महान् है।

५) प्रजापति में सतत समाहिति से योगी (सोम-क्रयण्यां) सोम-क्रय में (पूषा) पूषा [होता है]।

योगी अपने जीवन के मूल्य पर सोम खरीदता हैं। वह आत्मसमर्पण करके वैष्णव सोम खरीदता है। योगैश्वर्य अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार ही वह सोम है जिसे योगी सर्वात्मना समर्पित होकर और सब सांसारिक भोगों की आहुति देकर खरीदता [प्राप्त करता] है। वही वैष्णव योग के सम्पादक और प्रयति यज्ञ के याजक इस योगसाधक ने किया है और इसीसे वह पूर्व मन्त्रों में वर्णित दुस्तर साधनाओं में संसिद्धि प्राप्त कर पाया है। यह पूषा का पूषत्व है।

प्रजापति—
होकर अभिध्यात,
करता है परम में स्थित;
बनता है
व्याहृत वाणी में सुप्रेरित सोम;
सविता संविभाग वितरण में;
विश्वकर्मा दीक्षा में;
पूषा सोम-क्रय में।

इन्द्रश्च मरुतश्च क्रयायोपोत्थितोऽसुरः पण्यमानो
मित्रः क्रीतो विष्णुः शिपिविष्ट उरावासन्नो
विष्णुर्नरन्धिषः॥ (य ८/५५)

इन्द्रः च मरुतः च क्रयाय उप-उत्थितः असुरः
पण्यमानः मित्रः क्रीतः विष्णुः शिपि-विष्टः उरौ
आ-सन्नः विष्णुः नरन्-धिषः॥

पूर्व मन्त्र के अनुसार योगसाधक ब्रह्म-सोम के क्रय में पूषा है। स्व सर्वस्व समर्पित करके उसने वैष्णव सोम क्रय [प्राप्त] किया है।

यहां योगसाधक के (इन्द्रः च मरुतः च) आत्मा और प्राणों को (क्रयाय) क्रय करने [खरीदने] के लिए (क्रीतः विष्णुः) क्रीत विष्णु [बनता है]— (उप-उत्-थितः) समीप-ऊपर-स्थित (असुरः) प्राण-रम, मेघस्वरूप, आनन्दघन, (पण्यमानः) स्तूयमाण, (मित्रः) मित्र, (शिपि-विष्टः) किरण-प्रविष्ट, (नरन्-धिषः) संबलों को अन्तर्ध्वनित करनेवाला।

पूषा योगी ही विष्णु के ब्रह्मसोम का खरीदार नहीं होता है, विष्णु भी अपने प्रिय योगी का खरीदार होता है।

भक्त को भगवान् का भक्तिसोम प्रिय है तो भगवान् को भक्त का आत्मा और प्राण प्रिय हैं। भक्त स्व सर्वस्व समर्पित करके विष्णु भगवान् को खरीदता है तो विष्णु भगवान् आनन्दघन बनकर, भक्त पर आनन्द की वृष्टि करके, आनन्द के मूल्य पर भक्त को खरीदता है।

पूर्व मन्त्रानुसार योगसाधक ने विष्णु के सोम को खरीदा है पूषा बनकर और इस मन्त्र में क्रीत [खरीदे गए] विष्णु ने पूषा योगसाधक को खरीदा है—

१) उपोत्थित असुर बनकर। उपोत्थित=उप+उत्+थित। उप का अर्थ है समीप। उत् का अर्थ है उच्च, ऊपर। थित का अर्थ है स्थित। निकटस्थ

और उच्चस्थ आनन्दघन बनकर जो वृष्टि करता है उस घन को उपोत्थित असुर कहते हैं। भक्त को खरीदने के लिए विष्णु उपोत्थित आनन्दघन बन गया है। आनन्द की वृष्टि से विष्णु ने योगसाधक को खरीदा है।

२) पण्यमान बनकर। पण स्तुतौ व्यवहारे। विष्णु ने योगसाधक को वैष्णव स्तुत्य व्यवहारों से, प्रशस्त ब्राह्म जीवन-शैलियों से अलंकृत करके उसे खरीदा है, उसे अपनाया है।

३) मित्र बनकर। मित्र का अर्थ है मान और स्नेह करनेवाला। विष्णु ने मान और स्नेह से योगसाधक को खरीदा है।

४) शिपिविष्ट बनकर। शिपि नाम किरण का है। विष्ट का अर्थ है प्रविष्ट। विष्णु ने ज्ञान की किरण के रूप में भक्त के भीतर प्रकाश करके उसे क्रय किया है।

५) नरन्धिष बनकर। नरन्=संबल। धिष=ध्वनि। नरन्-धिष का अर्थ है संबलों को ध्वनित करनेवाला। विष्णु भक्त के अन्तः में आत्मसंबलों तथा ब्रह्मसंबलों की पुंसक ध्वनियां ध्वनित करके उसे क्रय करता है।

क्रीत विष्णु द्वारा योगसाधक क्रय किया जा चुका है। भक्त और भगवान् दोनों एक दूसरे के क्रीत हैं। क्रीत भक्त अपने क्रीत भगवान् से संगत समाहित हुआ कह उठता है—(विष्णुः) विष्णु [मेरे] (उरौ) उरु में, विशाल हृदयाकाश में, परम व्योम में (आ-सन्नः) समीपस्थ है, एकाकार है।

तू है क्रीत मेरा मैं हूं क्रीत तेरा।
प्रियतम तू मेरा प्रियतम मैं तेरा॥
यह महिमा है तेरी मेरे प्यारे विष्णो।
अनन्त का मेरे सान्त हृदय में डेरा॥

इन्द्र और प्राणों को
क्रय करने के लिए
क्रीत विष्णु बन गया
उपोत्थित घन,
पण्यमान, सन्मित्र,
किरण-प्रविष्ट और संबल-ध्वनि।
विष्णु है आसन्न उरु में॥

प्रोह्यमाणः सोम आगतो वरुण आसन्द्यामासन्नो
ऽग्निराग्नीध्र इन्द्रो हविर्धाने ऽथर्वोपावह्रियमाणः॥

(य ८/५६)

प्र-उह्यमानः सोमः आ-गतः वरुणः आ-सन्द्याम् आ-सन्नः
अग्निः आग्नीध्रे इन्द्रः हविःधाने अथर्वा उप-अव-ह्रियमानः॥

योगसाधक की योगस्थिति का यह अति गहन, गोपनीय और अनुभवगम्य चित्रण है—

१) (सोमः वरुणः) सोम्य वरुण, सुन्दर और वरणीय विष्णु (प्र-उह्यमाणः) प्रकृष्टतया अनुष्ठानित होकर (आ-गतः) आगया है और (आसन्द्याम्) आसन्दी पर, सिंहासन पर, हृदयासन पर, (आ-सन्नः) समीपस्थ है, उपस्थित है, विराजा हुआ है। योगसाधक अपने हृदय में सोम्य और वरणीय विष्णु का साक्षात् संदर्शन कर रहा है।

२) योगसाधक के (आग्नीध्रे अग्निः) आग्नीध्र में अग्नि है। प्रेमाग्नि से पूरित उसके हृदय में प्रेमाग्नि प्रज्वलित है।

३) (हविःधाने इन्द्रः) हवि-धान में इन्द्र है। प्रेम-हवि से पूरित हृदय में उसका आत्मा प्रेम-हवि [स्नेह-सोम] अर्पण कररहा है।

४) योगसाधक का (अथर्वा) अकम्प आत्मा (उप-अव-ह्रियमाणः) निकट अवहृत है, वक्ष सवक्ष है, एकाकार है।

सोम वरुण आगया
सुष्ठु अनुष्ठित होकर,
विराज रहा है आसन्दी पर,
अग्निधान में अग्नि,
हविर्धान में इन्द्र,
अथर्वा उप-अव-हृत है ॥

विश्वे देवा अंशुषु न्युप्तो विष्णुराप्रीतपा
आप्यायमानो यमः सूयमानो विष्णुः
सम्भ्रियमाणो वायुः पूयमानः शुक्रः पूतः शुक्रः
क्षीरश्रीर्मन्थी सक्तुश्रीः ॥ (य ८/५७)

विश्वे देवाः अंशुषु नि-उप्तः विष्णुः आप्रीत-पाः
आप्यायमानः यमः सूयमानः विष्णुः
सम्भ्रियमानः वायुः पूयमानः शुक्रः पूतः शुक्रः
क्षीर-श्रीः मन्थी सक्तु-श्रीः ॥

हृदय-सदन में विष्णु का साक्षात् संदर्शन करते हुए योगसाधक को सबमें सब ओर सर्वत्र विष्णु का संदर्शन होरहा है। उसी अनुभूति की स्थिति में वह प्रगान कर रहा है—

१) (विश्वे देवाः) सब देवो ! समस्त प्राकृत देवो !
२) तुम्हारे (अंशुषु) अंशुओं में, अंकुरों में, अंशों में, अङ्गप्रत्यङ्गों में (आ-प्रीत-पाः विष्णुः) प्रीति की पूर्णतया रक्षा करनेवाला विष्णु (नि-उप्तः) निस्थापित है, नित्य-नियुक्त है।
३) वही (आप्यायमानः) प्रवृद्ध, व्यापनशील [तुम्हारा](यमः) नियन्ता है।
४) वह (सूयमानः) सृजनशील, रचयिता [तुममें] (विष्णुः) व्यापक है।
५) वही तुम्हारा (सं-भ्रियमाणः) सम्भरण-सम्पोषण करता हुआ [तुम्हारा] (वायुः) प्राण है, जीवनाधार है।
६) वही (पूयमानः) पावनशील [तुम्हारा] (शुक्रः) पवित्रकर्ता है। उसी की पवित्रता से तुम सब पवित्र हो।
७) वही (पूतः) पवित्र, परम पावन विष्णु (शुक्रः) पवित्र है। उसी की सत्ता है जो नितान्त शुद्ध पवित्र है।
८) जो (क्षीर-श्रीः) दुग्ध-श्री तथा (सक्तु-श्रीः) सत्तु-श्री [होता है], वही (मन्थी) मन्थनशील योगी [विष्णु का साक्षात्कार करता है]।

क्षीर नाम दुग्ध अथवा निर्विष अमृतमय पेय का है। सक्तु नाम सत्तु अथवा निर्विष अमृतमय अन्न का है। योगक्षेत्र में अमृतमय पेय तथा अमृतमय अन्न [भोजन] का महत्त्व प्रत्यक्ष है। शुद्धाहार और शुद्धपान से योगी का सत्त्व सिद्ध होता है। सत्त्व की शुद्धि ही क्षीर और सक्तु की श्री है। शुद्ध-सत्त्व योगी ही धारणा-ध्यान-समाधि द्वारा तत्त्व का मन्थन करके माया [प्रकृति] में व्यापक विष्णु का उसी प्रकार संदर्शन करता है जिस प्रकार दूध का मन्थन करके दूध में व्यापक मक्खन का संदर्शन किया जाता है। योगसाधक ने शुद्ध सत्त्व के आश्रय से मन्थन करके ब्रह्मसाक्षात्कार किया है।

विश्वे देवो !
प्रीतिरक्षक विष्णु न्युप्त है
अंशुओं में।
वह ही व्यापनशील नियन्ता,
वह ही सृजनशील व्यापक,

वह ही सम्भरणशील प्राण है,
वह ही पावन शोधनकर्ता,
वह ही पावन परम पवित्र ।

क्षीरश्री और सक्तुश्री से
शोधित मन्थी,
दर्शन करता ब्रह्म-तत्त्व का ॥

विश्वे देवाश्चमसेषून्नीतो ऽसुर्होमायोद्यतो रुद्रो
हूयमानो वातो ऽभ्यावृत्तो नृचक्षाः प्रतिख्यातो
भक्षो भक्ष्यमाणः पितरो नाराशंसाः ॥ (य ८/५८)

विश्वे देवाः चमसेषु उत्-नीतः असुः होमाय उत्-यतः
रुद्रः हूयमानः वातः अभि-आवृत्तः नृ-चक्षाः
प्रति-ख्यातः भक्षः भक्ष्यमाणः पितरः नाराशंसाः ॥

विष्णु के सतत संदर्शन और संदृष्टि में आनन्द-विभोर हुआ समाहित योगसाधक सामाजिक देवों, पितरों और नाराशंसों को सम्बोधन करके कह रहा है—(विश्वे देवाः पितरः नाराशंसाः) सब देवो, पितरो और नाराशंसो ! वह विष्णु (होमाय) होमार्थ (चमसेषु) चमसों में (उत्-नीतः असुः) ऊपर लेजाया गया प्राण है, (उत्-यतः रुद्रः) ऊपर उठा हुआ रुद्र है, (हूयमानः वातः) आह्वान किया गया वात है, (अभि-आवृत्तः नृचक्षाः) सब ओर आवृत्त हुआ नृ-चक्षा है, (भक्ष्यमाणः प्रति-ख्यातः भक्षः) खाया जाने पर प्रति-ख्यात भोजन है ।

मानव-प्रजा को जो सूर्य और चन्द्रमा की तरह प्रकाश और ज्योति का दान करते हैं वे दानी सामाजिक देव हैं । अग्नि, वायु, जल और पृथिवी की तरह जो मानव-प्रजा के जीवन और आयुष्य की रक्षा करते हैं वे परोपकारी जन पितर हैं । शंसन [प्रेरणा शिक्षण प्रशिक्षण] द्वारा जो जनों को शंसनीय प्रशंसनीय बनाते हैं वे साचार वेदप्रसारक नाराशंस मानव हैं । समाज में ये तीन प्रकार के ही मानव हैं जो आत्मना विष्णुपरायण होते हैं । अतः योगसाधक ने यहां उन्हीं को सम्बोधन किया है ।

चमसों में भर भर कर घृत और हवि की आहुतियां देते हुए जो होम किया जाता है, उससे ऊपर उठता हुआ प्राणवायु जल और वायु की शुद्धि करता है । इसी प्रकार जो साधक जन मस्तिष्क चमस में विचार-हवि, नेत्रचमस में दर्शन-हवि, श्रोत्रचमस में श्रवणहवि, मुखचमस में मन्त्रहवि या नामहवि, हृदयचमस में स्नेहघृत भर भर कर विष्णु में आत्मसमर्पणरूपी आहुत देते हैं उनका प्राण [जीवन] संसार में प्राण [संजीवन] का संचार करके मानवों को ऊपर लेजाता है, ऊपर उठाता है ।

जिस प्रकार होम की सुगन्धि बादलवत् ऊपर उठकर आकाश में दूर दूर तक व्यापती है और रोगों का नाश करती है, उसी प्रकार साधक-साधिका का विष्णु में आहुत जीवन अथवा विष्णु में समर्पित जीवन ऊपर उठकर विश्व के अन्तःरोगों का निराकरण करनेवाला बन जाता है । रुद्र=रुत्+द्र । रुत् का अर्थ है अन्तःकरण का रोग । द्र का अर्थ है दीर्ण [नाश] करनेवाला ।

आह्वान किया जाने पर वह विष्णु वातवत्-वायुवत् वेगवान् बना देता है, ऐसा वेगवान् कि साधक सारे संसार को झकझोर कर हिला देता है ।

समर्पित साधक को वह विष्णु वह नृचक्षु-वीरदृष्टि देता है कि अभि-आवृत्त होने पर, सब ओर से घिर जाने पर वह नृचक्षा बन जाता है,

वीर दृष्टि से देखनेवाला बन जाता है—वह दीन दृष्टि से नहीं, नरत्व से भरी अदीन दृष्टि से देखता है।

वह विष्णु खाया जाता है। अग्नि में समर्पित कोयला जिस प्रकार अग्नि को खाकर, अपने आपमें अग्नि को संचारित करके अग्निरूप होजाता है, उसी प्रकार विष्णु-अग्नि में आत्मना समर्पित साधक विष्णु को खाता है, वैष्णव गुणों को अपने आपमें संचारित करके प्रति-ख्यात होता है, जीवन के प्रति पार्श्व में, प्रत्येक क्षेत्र में विख्यात होजाता है। निस्सन्देह विष्णु प्रतिख्यात भक्ष [भोजन] है और खाया जाने पर वह खानेवाले को प्रत्येक क्षेत्र में ख्याति से प्रख्यात और परिख्यात करता है। "जैसा खाये वैसा होजाये। जिसे खाये तद्रूप होजाये"।

वह है उन्नीत प्राण
होमार्थं चमसों में,
ऊपर उठा हुआ रुद्र,
आह्वान किया गया वात,
अभितः घिरा हुआ अदीन-दृष्टि,
खाया जाने पर प्रतिख्यात भक्ष ॥

सन्नः सिन्धुरवभृथायोद्यतः समुद्रो ऽ भ्यवह्रियमाणः
सलिलः प्रप्लुतो ययोरोजसा स्कभिता रजांसि
वीर्येभिर्वीरतमा शविष्ठा। या पत्येते अप्रतीता
सहोभिर्विष्णू अगन्वरुणा पूर्वहूतौ ॥ (य ८/५९)

सन्नः सिन्धुः अव-भृथाय उत्-यतः समुद्रः
अभि-अवह्रियमाणः सलिलः प्र-प्लुतः ययोः
ओजसा स्कभिता रजांसि वीर्येभिः वीरतमा शविष्ठा।
या पत्येते अप्रति-इता सहःभिः विष्णू अगन्
वरुणा पूर्व-हूतौ ॥

अपने अन्तःकरण में विष्णु के निजरूप के संदर्शन में उसका अभिस्तवन करता हुआ योग-साधक बाह्यमुख होकर देखता है तो उसे प्रकर्ता विष्णु तथा प्रकृति माया का व्यापक व्याप्य रूप दिखाई पड़ता है। सृष्टि के कण कण में उसे उसी की महिमा दिखाई देती है। आत्मलीनता की उसी स्थिति में वह आत्मगान करने लगता है—

१) (सन्नः) अव-स्थापित है (सिन्धुः) सिन्धु (अव-भृथाय) अवभरण के लिये, पालन पोषण के लिये और (उत्-यतः) ऊपर उठा हुआ है (समुद्रः) समुद्र (अभि-अवह्रियमाणः) सब ओर हिलोरित तथा (सलिलः प्र-प्लुतः) जल आप्लावित—(ययोः) जिन दोनों के (ओजसा) ओज से (रजांसि स्कभिता) लोकलोकान्तर स्तम्भित-स्थित हैं।

सिन्धु और समुद्र दोनों का प्रयोग महासागर के अर्थ में हुआ है। किन्तु दोनों की परिष्टुति में भेद है। सिन्धु अव-स्थापित है। समुद्र अव-स्थापक है। सिन्धु है सृष्टिरूपी प्राकृत अथवा भौतिक महासागर जिससे सब प्राणियों का भरण पोषण होता है और जो प्रकर्ता विष्णु के विश्वव्यापी प्राकृत नियमों द्वारा अव-स्थापित तथा संचालित रहता है। विष्णु है वह महा सागर जो सबमें सर्वत्र सब ओर आनन्द की हिलोरों से हिलोरित होरहा है और जिसमें शिव शान्ति-सलिल आप्लावित होरहा है। सबमें समाया हुआ भी वह सबसे उत्-यत है, सबसे ऊपर उठा हुआ है, सबसे न्यारा है।

सिन्धु और समुद्र, प्रकृति और प्रकर्ता, माया और विष्णु—दोनों के ओज से, दोनों की महाशक्ति

से, दोनों के वीर्य से ही ये सब लोकलोकान्तर स्थित हैं और प्रकृति का यह अनन्त चक्र चल रहा है। प्रकृति में प्रकर्ता का दर्शन योग की एक महाविभूति है।

२) (या) यौ, जो दोनों (वीर-तमा) वीरतमौ, वीरतम, वीर्यवत्तम (शविष्ठा) शविष्ठौ, अतिशय बली, बलवत्तम, (अ-प्रति-इता) अप्रति-इतौ, अप्रतिम-गति, सतत-गामी (विष्णू) व्यापक, (वरुणा) वरुणौ, वरणीय, (पूर्व-हूतौ) पूर्व-हूत, पूर्व-सदा से विज्ञानवेत्ताओं द्वारा वर्णित, पूर्वों द्वारा कथित-दोनों (वीर्येभिः) वीर्यों द्वारा, प्राकृत प्रबल नियमों द्वारा तथा (सहःभिः) सहों द्वारा, धारण-प्रधारण सामर्थ्यों द्वारा (पत्येते) गति-संचालन कररहे हैं [विष्णु के सिन्धु का]।

३) उन दोनों को सब सदा सर्वदा (अगन्) प्राप्त हुए हुए हैं। सब उसमें हैं। वह सबमें है।

अव-स्थापित है सिन्धु
अव-मरण के लिए,
समुद्र ऊपर उठा हुआ
सर्वतः हिलोरित
आप्लावित सलिल,
जिनके ओज से हैं स्तम्भित
लोकलोकान्तर सकल,
जो दोनों वीरतम बलवत्तम
सततगामी व्यापक वरणीय पूर्वहूत
संचालन कर रहे हैं सिन्धु का।
सब हैं संगत सम्प्राप्त
उन दोनों से ॥

देवान्दिवमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु
मनुष्यानन्तरिक्षमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु
पितॄन्पृथिवीमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु
यं कं च लोकमगन्यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत् ॥ (य ८/६०)

देवान् दिवम् अगन् यज्ञः ततः मा द्रविणम् अष्टु
मनुष्यान् अन्तरिक्षम् अगन् यज्ञः ततः मा द्रविणम् अष्टु
पितॄन् पृथिवीम् अगन् यज्ञः ततः मा द्रविणम् अष्टु
यम् कम् च लोकम् अगन् यज्ञः ततः मे भद्रम् अभूत् ॥

पूर्व मन्त्र में जिस सत्ता को समुद्र कहा गया है, उसी को यहां यज्ञ कहा गया है। यज्ञस्वरूप विष्णु पूर्व मन्त्र में वर्णित अखिल सिन्धु में समाया हुआ है और फिर सबसे ऊपर और सबसे न्यारा है। द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथिवी—तीनों लोकों में वह संगत-व्यापक है।

मानव-जीवन में भी तो तीनों लोक हैं—शिर द्यौ है, अन्तःकरण [हृदय] अन्तरिक्ष है और नाभि से नीचे का भाग पृथिवी है। द्यौ [शिर] से चिन्तनसमाधि-योग की साधना होती है। अन्तरिक्ष [हृदय] से प्रीति-योग अथवा भक्ति-योग की साधना होती है। पृथिवी [अधोलोक] से काम-योग द्वारा प्रजा-तन्तु के प्रथन [विस्तार] की साधना होती है। काम नाम कामना का है। सन्तान की कामना से जो काम का सेवन किया जाता है वह एक पुनीत साधना है। काम में जो कमनीयता है उसमें पति पत्नी के आत्माओं की एकाकारिता की कामना निहित होती है। काम को कमनीयता दिव्य देव के मिलन की कामना की सजीव जागृति प्रदान करती है।

इसी भावभरी भावना का भव्यीकरण करता हुआ साक्षात्कर्मा योगसाधक कह रहा है—



१) (यज्ञ:) विष्णु (देवान् दिवं) देवों को और द्यौ को (अगन्) प्राप्त हुआ, (ततः) उससे (मा) मुझे (द्रविणं अष्टु) ऐश्वर्य प्राप्त हो।

"योग की विधि से मैंने अपने द्यौ [मस्तिष्क] में विष्णु का ध्यान किया। मैंने दिव्य प्रकाश पाया और देवजनों को भी प्रकाश की उपलब्धि करायी। उस ध्यानसमाधि के सतत अभ्यास से मुझे सदैव आत्मैश्वर्य और ब्रह्मैश्वर्य प्राप्त होता रहे"।

२) (यज्ञ:) विष्णु (मनुष्यान् अन्तरिक्षं) मनुष्यों को और अन्तरिक्ष को (अगन्) प्राप्त हुआ, (ततः मा द्रविणं अष्टु) उससे मुझे ऐश्वर्य प्राप्त हो।

"भक्तियोग के आश्रय से मैंने अपने हृदय में अध्यात्मसोम का पान किया और अखिल मानवों को उसका पान कराया। उस भक्तियोग के अभ्यास से मुझे अध्यात्मैश्वर्य की सतत प्राप्ति होती रहे"।

३) (यज्ञ:) विष्णु (पितॄन् पृथिवीं अगन्) पितरों और पृथिवी को प्राप्त हुआ, (ततः मा द्रविणं अष्टु) उससे मुझे पित्रैश्वर्य सम्प्राप्त रहे।

"पिता बनकर मैंने विष्णु के पितृत्व की अनुभूति प्राप्त की और पितरों [माता-पिताओं] को वैष्णव पितृत्व का आस्वादन कराया। इस पितृयोग से मुझे विष्णु के पितृत्व का ऐश्वर्य सदा प्राप्त रहे। विष्णु मेरा पिता है, मैं विष्णु का पुत्र हूं—यह भावयोग मानवों में व्याप जाये"।

४) (यज्ञ:) विष्णु (यं कं च लोकं) जिस किसी भी लोक को (अगन्) प्राप्त हुआ, (ततः) उससे (मे) मेरे लिये (भद्रं अभूत्) कल्याण हुआ।

"तीनों लोकों में से मैंने जिस किसी लोक में विष्णु को संगत किया, उसीसे मेरा कल्याण हुआ। द्यौलोक [मस्तिष्क] में संगत होकर मुझे समाहिति-प्रसाद मिला और उससे मेरा कल्याण हुआ। अन्तरिक्षलोक [हृदय] में संगत होकर मुझे भक्ति-प्रसाद मिला और उससे मेरा कल्याण हुआ। पितृलोक [पितृभाव] में संगत होकर मुझे वात्सल्य-प्रसाद मिला और उससे मेरा कल्याण हुआ"।

देवों द्यौ को प्राप्त हुआ यज्ञ,
उससे मुझे हो ऐश्वर्य प्राप्त।
मनुष्यों अन्तरिक्ष को प्राप्त हुआ यज्ञ,
उससे मुझे हो ऐश्वर्य प्राप्त।
पितरों पृथिवी को प्राप्त हुआ यज्ञ,
उससे मुझे हो ऐश्वर्य प्राप्त।
जिस किसी भी लोक को प्राप्त हुआ यज्ञ,
उससे मेरे लिये हुआ कल्याण॥

चतुस्त्रिꣳशत्तन्तवो ये वितत्निरे य इमं यज्ञं स्वधया ददन्ते।
तेषां छिन्नं सम्वेतद्दधामि स्वाहा घर्मो अप्येतु देवान्॥ (य ८/६१)

चतुःत्रिंशत् तन्तवः ये वितत्निरे ये इमम् यज्ञम् स्वधया ददन्ते।
तेषाम् छिन्नम् सम् उ एतत् दधामि स्वाहा घर्मः अपि एतु देवान्॥

योगसाधक कल्याणपथ का पथिक है। आत्म-साधना द्वारा पृथिवी की समस्त मानव-प्रजा का कल्याण-सम्पादन उसकी सहज साध है। विष्णु-समुद्र में समाहित रहते हुए उसे अन्त तक संसार-सिन्धु से तरने और तारने की साध में प्राणवत् निरत रहना है। इसी भाव से भावित रहते हुए वह विष्णु से प्रार्थना करता रहता है—जीवन में (ये चतुःत्रिशत् तन्तवः) जो चौतीस [३४] तन्तु (वितत्निरे) बिखरे हुए हैं, (ये स्व-धया) जो स्व-धारणशक्ति से [मेरे] (इमं यज्ञं) इस यज्ञ के प्रति, [मेरी] इस साधना को (ददन्ते) योगदान दे रहे हैं, मैं (तेषां उ) उनके ही (एतत् छिन्नम्) इस छिन्न-बिखराव को (सं-दधामि) संयुक्त-समाहित रख रहा हूं। तेरी कृपा से मेरा यह (घर्मः अपि) यज्ञ भी, विष्णु-योग का यह अनुष्ठान भी (स्वाहा) स्वाहुति द्वारा (देवान् एतु) देवों को प्राप्त होवे, सब मानवदेवों को लाभान्वित करे, विश्व में दिव्यताओं का सम्पादन करे।

योगसाधक के जीवन के चौतीस तन्तु हैं—

१ विचार	२ चिन्तन	३ धारणा
४ ध्यान	५ बुद्धि	६ मेधा
७ ज्ञान	८ दृष्टि	९ श्रवण
१० प्राण	११ वाणी	१२ रसना
१३ घ्राण	१४ स्पर्श	१५ कर्तृत्व
१६ मन	१७ संकल्प	१८ भावना
१९ चित्त	२० चेतना	२१ श्रद्धा
२२ साहस	२३ आत्मा	२४ जाठर
२५ वीर्य	२६ ओज	२७ तेज
२८ गमन [चलना]		२९ सहन
३० वहन	३१ वृत्ति	३२ स्वभाव
३३ प्रकृति	३४ सत्त्व।	

ये ही वे तन्तु हैं जिनसे मानव-जीवन का ताना बाना तना हुआ है और जिनके आश्रय से कर्मसाधना के बाने बुने जाते हैं। ये तन्तु जीवन-सदन में बिखरे पड़े हैं। जो इनको छिन्न भिन्न रखता है वह किसी भी क्षेत्र में सफलकाम नहीं हो पाता है। पूर्ण विजय साफल्य उसी को प्राप्त होता है जो आत्मयोग के द्वारा इनकी छिन्नता अथवा इनके बिखराव को संयुक्त समाहित करके इन्हें एकजुष्ट संजुष्ट रखता है। उसी की साधना समस्त मानव-देवों को जीवन की योगपद्धति से युक्त करती है। इसीलिये योगसाधक विष्णु से विनय कर रहा है, "विष्णो! मैं अपने चौतीसों तन्तुओं को अच्छिन्न संयुक्त रखता हुआ स्व-आहुति द्वारा विष्णुयोगरूपी यज्ञ की सुगन्धि से सम्पूर्ण मानव-देवों को सतत सुरभित रखूं।"

जो चौतीस तन्तु बिखरे हैं,
जो देते हैं योगदान इस यज्ञ को,
मैं संयुक्त सदा रखता हूं
उनके इस बिखराव को।
यज्ञ भी पहुंचे स्वाहुति द्वारा
सब ही मानव-देवों को ॥

यज्ञस्य दोहो विततः पुरुत्रा सो अष्टधा दिवमन्वाततान।
स यज्ञ धुक्ष्व महि मे प्रजायां रायस्पोषं विश्वमायुरशीय स्वाहा ॥ (य ८/६२)

यज्ञस्य दोहः वि-ततः पुरु-त्रा सः अष्टधा दिवम् अनु-आततान।
सः यज्ञ धुक्ष्व महि मे प्र-जायाम् रायः पोषम् विश्वम् आयुः अशीय स्वाहा ॥

पूर्व मन्त्र से अपनी प्रार्थना को जारी रखते हुए योगसाधक विष्णु से आत्मनिवेदन करता है—
१) (यज्ञस्य) यज्ञ का, यज्ञरूप विष्णु का (दोहः) दोह, दुग्ध (पुरुत्रा) बहुत्र, सर्वत्र, सर्वतः, सब ओर (विततः) फैला हुआ है।

जो दुहा जाता है उसे दोह कहते हैं। गौ का दोह दुग्ध है। सागर, बादल, नदी, तालाब, कूप का दोह जल है। सूर्य का दोह प्रकाश है। चन्द्रमा का दोह चांदनी है। विष्णु का दोह आनन्द है। विष्णु आनन्दस्वरूप है, आनन्दघन है। उसका आनन्द सब ओर सबमें समाया हुआ है।
२) मुझमें (सः) वह [दोह] आनन्दमय विष्णु का आनन्द (अष्टधा) आठ प्रकार से (दिवं अनु-आततान) द्यौ को अनुक्रम से विस्तारा-व्यापा हुआ है।

मानव शरीर में मस्तिष्क द्यौ है, हृदय अन्तरिक्ष है और नाभि से नीचे का भाग भूमि है। द्यौ अथवा मस्तिष्क में दोह आठ प्रकार से व्यापा जाता है—विचार, चिन्तन, स्मरण, ज्ञान, विवेक धारणा, ध्यान और समाधि।

"आनन्दघन विष्णु का आनन्द-दोह मेरे द्यौ में आठों प्रकार से अनुक्रमेण व्यापा हुआ है। आनन्दमय विचार, आनन्दमय चिन्तन, आनन्दमय स्मरण, आनन्दमय ज्ञान, आनन्दमय विवेक, आनन्दमयी धारणा, आनन्दमय ध्यान, आनन्दमय

समाधि। वैष्णव विचार, वैष्णव चिन्तन, वैष्णव स्मरण, वैष्णव ज्ञान, वैष्णव विवेक, वैष्णवी धारणा, वैष्णव ध्यान, वैष्णव समाधि—यह अष्टानन्द क्रमशः मेरे द्यौ में व्यापा हुआ है"।

३) (यज्ञ) विष्णो ! (सः) वह तू (मे प्रजायाम्) मेरी प्रजा में, मेरे मानव-परिवार में (रायः) आत्मैश्वर्य का, आनन्ददोह का (महि पोषम्) महा पोष, महा पुष्ट-दोह (धुक्ष्व) दुह, प्रवाहित रख।

४) और मुझे आशीर्वाद दे कि तेरे निज आनन्द-दोह का मैं (स्वाहा) स्वाहुतिपूर्वक (विश्वं आयुः) समस्त आयु, यावज्जीवन (अशीय) सेवन करूं। अपने मानव-परिवार के लिये आनन्द-दोह की आहुतियां देता हुआ मैं तेरे आनन्ददोह का सेवन करूं।

यज्ञ का दोह है
पुरुत्रा फैला हुआ।
वह है अष्टधा।
द्यौ में क्रमशः व्यापा हुआ।
यज्ञ ! वह तू दुह
आत्मैश्वर्य का महा पोष
मेरी प्रजा में।
सेवन करूं मैं
समस्त आयु
स्वाहुति पूर्वक॥

सूक्ति—यज्ञस्य दोहे विततः पुरुत्र॥
यज्ञ का दोह है फैला हुआ सर्वत्र।

आ पवस्व हिरण्यवदश्ववत्सोम वीरवत्।
वाजं गोमन्तमा भर स्वाहा॥

[ऋ ९. ६३. १८] (य ८/६३)

आ-पवस्व हिरण्य-वत् अश्व-वत् सोम वीर-वत्।
वाजम् गो-मन्तम् आ-भर स्वाहा॥

अपने आत्मनिवेदन का उपसंहार करता हुआ योगसाधक विष्णु के दोह को सम्बोधन करता है—(सोम) ! (हिरण्य-वत्) स्वर्ण के समान, स्वर्णादि धनों के समान सम्पन्न बनानेवाला, (अश्व-वत्) अश्व के तुल्य, अश्व के समान जीवन-यात्रा पूरी करानेवाला, (वीर-वत्) वीर के समान विजय-सम्पादक, (गो-मन्तम्) रश्मियों से युक्त (वाजम्) ऐश्वर्य (आ-पवस्व) क्षरण कर, (आ-भर) आप्लावित रख।

सोम शब्द का प्रयोग यहां पूर्व मन्त्र में वर्णित दोह [आनन्द-रस] के लिये हुआ है। कितना हृदय-ग्राही गहन दोह-सम्बोधन है यह—"आनन्दघन विष्णु के आनन्दसोम ! आनन्ददोह ! मेरे लिये और मेरे जैसों के लिए तू रश्मियों से युक्त वह वाज, अध्यात्म किरणों से युक्त वह सम्पदा सतत प्रवाहित और आप्लावित रख, जो हिरण्यवत् हमें सम्पन्न और भाग्यशाली रखे, अश्ववत् हमारी मंजिल तय कराये और वीर के समान लोक परलोक में हमारी विजय सम्पादन कराये। दोह ! तू ही हमारा हिरण्य है, तू ही हमारा अश्व [वेग] है, तू ही हमारा विजयकर वीर [वीर्य] है।

सोम ! आनन्ददोह ! तेरा सेवन हम (स्वाहा) स्वाहुतिपूर्वक करें। तेरे सेवन से हम स्वयं आनन्दित हों और संसार को आनन्दित करें।

सोम !
हिरण्यवत् अश्ववत् वीरवत्
रख सुप्रवाहित आप्लावित
गोमन्त वाज सतत सन्तत निरन्तर।
सेवन करें हम उसका
स्वाहुतिपूर्वक॥

विदेह-रचित संस्थान-साहित्य

वेदव्याख्याग्रन्थ

1. प्रथम पुष्प — दो रुपये
2. द्वितीय पुष्प — डेढ़ रुपये
3. तृतीय पुष्प — दो रुपये
4. चतुर्थ पुष्प — एक रुपया
5. पञ्चम पुष्प — डेढ़ रुपये
6. षष्ठ पुष्प — एक रुपया
7. सप्तम पुष्प — डेढ़ रुपये
8. अष्टम पुष्प — डेढ़ रुपये

योग-ग्रन्थमाला

1. साधना — एक रुपया
2. स्वास्थ्य और सौन्दर्य — ५० पैसे
3. वैदिक योगपद्धति — ४० पैसे
4. सन्ध्या-योग — ३० पैसे
5. गायत्री मन्त्र का अनुष्ठान — २५ पैसे
6. महामृत्युञ्जय मन्त्र का अनुष्ठान — २५ पैसे
7. योग-तरङ्ग — २० पैसे
8. शिव-संकल्प — ३० पैसे
9. वैदिक साधना — ५० पैसे

भक्ति-ग्रन्थमाला

1. गायत्री — एक रुपया
2. विदेह-गीतावली — ४० पैसे
3. आनन्द-सुधा — ४० पैसे
4. जीवन-पाथेय — ५० पैसे

चरित-ग्रन्थमाला

1. रामचरित — डेढ़ रुपये
2. दयानन्द-चरितामृत — एक रुपया
3. जीवन-ज्योतियां — ३० पैसे

शिक्षा-ग्रन्थमाला

1. वैदिक बाल-शिक्षा, प्रथम भाग — ५० पैसे
2. वैदिक बाल-शिक्षा, द्वितीय भाग — ५० पैसे
3. वैदिक बाल-शिक्षा, तृतीय भाग — ७० पैसे
4. वैदिक स्त्री-शिक्षा — ४० पैसे
5. संस्कृत-शिक्षा, प्रथम भाग — १९ पैसे
6. संस्कृत-शिक्षा, द्वितीय भाग — ३७ पैसे
7. संस्कृत-स्वयंशिक्षक, प्रथम भाग — ७० पैसे
8. संस्कृत-स्वयंशिक्षक, द्वितीय भाग — ७० पैसे

कर्मकाण्ड-ग्रन्थमाला

1. स्वस्ति-याग — ८० पैसे
2. सत्यनारायण की कथा — ३० पैसे
3. वैदिक सत्सङ्ग — ३० पैसे
4. विजय-याग — ५० पैसे

मिश्रित-ग्रन्थमाला

1. सार्वभौम आर्य साम्राज्य — ५० पैसे
2. यज्ञोपवीत-रहस्य — ६ पैसे
3. स्वभाव और सुख दुःख — २० पैसे
4. मानव-धर्म — २० पैसे
5. चरित्र-निर्माण — २० पैसे
6. गृहस्थाश्रम — ५० पैसे
7. भारत के अध्यापकों से — ३० पैसे
8. भारत के विद्यार्थियों से — ३० पैसे

English–Lakshmi Vedic Series

1. The Vedic Prayers — Rs. 2/–
2. The Exposition of the Vedas — Rs. 4/–

सविता की जिल्दें :

वर्ष ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, १४, १५, १६, १७, १८
—प्रति जिल्द, सवा तीन रुपये

वेदसंस्थान, पो. बॉ. सं. १५०, अजमेर (भारत)